

जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूं-341306 (राज.)

दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र



एम.ए. (संस्कृत)–पूर्वाब्धि

तृतीय पत्र : भारतीय दर्शन

लेखक

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

अनुक्रमणिका

भारतीय दर्शन (Indian Philosophy)

इकाई	पाठ्यक्रम विवरण	पृष्ठ सं.
I	जैन दर्शन—षड्दर्शन समुच्चय (जैन दर्शन भाग), आचार्य हरिभद्र सुरिकृत	
	तत्त्व का स्वरूप, तत्त्व के प्रकार, तत्त्व चिंतन का लक्ष्य, अस्तिकाय, द्रव्य, गुण पर्याय का स्वरूप, भेद एवं सम्बन्ध, जीव स्वरूप, जीव सिद्धि, जीव के प्रकार, विभिन्न दृष्टि से जैन दर्शन में जीव, पुद्गल का स्वरूप, भेद, अवस्थाएं जीव और पुद्गल का सम्बन्ध, परमाणु स्वरूप, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद प्रमाण।	
II	सांख्य दर्शन—सांख्यकारिका—ईश्वरकृष्णकृत	
	सत्कार्यवाद, पुरुष, प्रकृति, प्रकृति—पुरुष सम्बन्ध, विकासवाद, प्रमाण, मोक्ष	
III	योग दर्शन, योगसूत्र (समाधिपाद) पतंजलिकृत	
	योग का स्वरूप, चित्तवृत्ति, चित्तभूमि, अष्टांग योग, ईश्वर	
IV	न्याय दर्शन—तर्कभाषा (शब्दखण्ड पर्यन्त) केशव मिश्रकृत	
	प्रमाण विचार, पदार्थ विचार, वैशेषिक पदार्थ विचार, परमाणुवाद	
V	वेदान्त दर्शन—वेदान्तसार, सदानन्दकृत	
	मायावाद, ब्रह्मवाद, मोक्ष विचार	
	प्रश्न बैंक	

जैन दर्शन—षड्दर्शन समुच्चय (जैन दर्शन) आचार्य हरिभद्र सुरि कृत

भारतीय दर्शन की विशेषताएं

संरचना:—

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 भूमिका
- 1.2 भारतीय दर्शन की विशेषताएं
- 1.3 आरोप और परिहार
- 1.4 षड्दर्शनसमुच्चय एवं हरिभद्रसूरि
- 1.5 तत्त्व का स्वरूप, तत्त्व के प्रकार, तत्त्व चिंतन का लक्ष्य, अस्तिकाय
- 1.6 द्रव्य, गुण पर्याय का स्वरूप, भेद एवं सम्बन्ध
- 1.7 जीव स्वरूप, जीव सिद्धि, जीव के प्रकार, विभिन्न दृष्टि से जैन दर्शन में जीव
- 1.8 पुद्गल का स्वरूप, भेद, अवस्थाएं जीव और पुद्गल का सम्बन्ध, परमाणु स्वरूप
- 1.9 अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद
- 1.10 निष्कर्ष
- 1.11 अभ्यास के प्रश्न
- 1.12 अध्ययन हेतु ग्रंथों के नाम

1.0 उद्देश्य

1. इस पाठ के अध्ययन से भारतीय दर्शन के बारे में जानकारी प्राप्त होगी।
2. भारतीय दर्शन के आस्तिक और नास्तिक विचारधारा का भी ज्ञान होगा।
3. विभिन्न भारतीय दर्शनों की समानताएं स्पष्ट होगी।
4. भारतीय दर्शन की विशेषताओं की जानकारी प्राप्त होगी।
5. भारतीय दर्शन की शाखा का ज्ञान होगा।
6. यहां जैन दर्शन के तत्त्व एवं द्रव्य विचार का विस्तार में अध्ययन होगा।
7. इस पाठ में जैन दर्शन के मुख्य सिद्धान्त अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद को भी विद्यार्थी आत्मसात कर सकेंगे।

1.1 भूमिका

भारतीय दर्शन प्राचीन और अर्वाचीन, हिंदू और अहिंदू तथा वैदिक एवं अवैदिक विचारों की संतति है। इसका विभाजन आस्तिक और नास्तिक के रूप में हुआ है। भारतीय दर्शन में आस्तिक दर्शनों के अंतर्गत सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा-वेदांत हैं तथा नास्तिक दर्शनों में चार्वाक, जैन और बौद्ध माने जाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि यह विभाजन किस आधार पर हुआ है? यदि यह विभाजन ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद के आधार पर होता तो अनीश्वरवादी सांख्य और मीमांसा आस्तिक दर्शन न होते किंतु इनकी गिनती आस्तिक दर्शनों में मानी गई है अतः भारतीय दर्शन का विभाजन ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद के आधार पर दृष्टिगोचर नहीं होता है। यदि आस्तिक और नास्तिक का विभाजन आत्मा को मानने और न मानने के आधार पर होता तो जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन आस्तिक दर्शन की परंपरा में माने जाते, किंतु ऐसा नहीं है इसलिए यह विभाजन आत्मा के आधार पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। यदि इस विभाजन का आधार पुनर्जन्म और अपुनर्जन्म को माना जाए तो भी जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन पुनर्जन्म को मानने के कारण नास्तिक की परंपरा से हटकर आस्तिक की परंपरा में होते अतः पुनर्जन्म इस विभाजन का आधार नहीं माना जा सकता है। यदि आस्तिक और नास्तिक का विभाजन वेदों के आधार पर माना जाए अर्थात् जो वैदिक विचारधारा को मानते हैं, वे आस्तिक हैं और जो वैदिक विचारधारा को नहीं मानते वे नास्तिक हैं अतः यह स्पष्ट होता है कि चार्वाक, जैन और बौद्ध वैदिक विचारधारा में विश्वास नहीं करते हैं इसलिए इन्हें नास्तिक के अंतर्गत रखा गया है। आचार्य मनु भी कहते हैं—‘नास्तिको वेद निन्दकः’ अतः भारतीय दर्शन के आस्तिक और नास्तिक का विभाजन वैदिक और अवैदिक आधार पर मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

1.2 भारतीय दर्शन की विशेषताएं

किसी समूह की विशेषताएं उस समूह में पाए जाने वाले समानताओं के आधार पर रेखांकित होता है। जहां तक भारतीय दर्शन की विशेषताओं का मामला है, यह कहा जा सकता है कि चार्वाक को छोड़कर भारतीय दर्शन की अन्य शाखाएं कई बातों को लेकर समान दृष्टिगोचर होती हैं। इन्हीं समानताओं को भारतीय दर्शन की विशेषताओं के रूप में माना जाता है।

1.2.1. आध्यात्मिक असंतोष से दर्शन की उत्पत्ति

प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक अध्यात्म में विश्वास करते हैं। अध्यात्म का पाठ व्यक्ति संसार में ही सीखता है। संसार की पीड़ा, दुःख, व्यथा, संत्रास एवं बुराई से निजात पाने के लिए अध्यात्म की ओर वह आकृष्ट होता है। सभी भारतीय दार्शनिकों की मान्यता है कि यह संसार दुःखों का घर है। यत्र-तत्र-सर्वत्र यहां दुःख ही दुःख देखने को मिलते हैं। भगवान् बुद्ध ने चार आर्य सत्य के अंतर्गत दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध एवं दुःख निरोध मार्ग को स्वीकार किया है। यहा प्रथम आर्य सत्य दुःख ही है। भगवान् महावीर का मानना था कि संसार दुःखों का सागर है। आचार्य शंकर भी संसार को माया का परिणाम मानते हैं। उनके

अनुसार संसार मिथ्या है। यह मोक्ष में बाधक है। इसी प्रकार गौतम, कणाद, कपिल, पतंजलि आदि भी संसार को दुःखों का घर मानते हैं। दुःखों से निवृत्ति ही संसार से निवृत्ति है और संसार की निवृत्ति से मोक्ष की प्राप्ति संभव है।

1.2.2 दर्शन का उद्देश्य

सभी भारतीय दार्शनिक दर्शन का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं। भले ही दार्शनिकों ने दुःख को स्वीकार किया हो किंतु दुःख निवृत्ति ही उनका मूल लक्ष्य है। दुःखों के आत्यंतिक निवृत्ति को सांख्य, नैयायिक मोक्ष के रूप में मानते हैं। भगवान महावीर भी यह मानते हैं कि दुःख जब पूरी तरह से छिन्न हो जाते हैं तब मोक्ष की प्राप्ति होती है। भगवान बुद्ध भी मोक्ष को निर्वाण के रूप में स्वीकार करते हैं। गौतम इसे निश्चेयस और जैमिनी इसे अपवर्ग के रूप में स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि मोक्ष के स्वरूप में भले ही दार्शनिकों में मतभेद हों किंतु मोक्ष की मान्यता के रूप में प्रायः सब एक मत दिखाई पड़ते हैं।

1.2.3 संसार एक रंगमंच है

प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों का मानना है कि संसार एक रंगमंच है जहां सबको अपने कर्मों के परिणाम भुगतने के लिए आना पड़ता है। संसार रूपी बाजार में क्रय-विक्रय करने के लिए लोग आते-जाते रहते हैं। यह आवागमन तब तक चलता रहता है जब तक की जीव मुक्त नहीं हो जाता।

1.2.4 पुनर्जन्म में आस्था

चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। एकमात्र चार्वाक ही ऐसा दर्शन है जो 'पुनरागमनं कुतः' कहकर पुनर्जन्म का निषेध करता है। चूंकि सभी भारतीय दार्शनिकों का लक्ष्य मोक्ष है। इस अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जीव को अपने अतीत और वर्तमान सभी कर्मों से निजात पाना होता है। जब तक कर्म विद्यमान रहते हैं तब तक व्यक्ति का पुनर्जन्म होता रहता है। भारतीय दर्शन में तीन प्रकार के कर्म माने गए हैं—प्रारब्ध कर्म, संचित कर्म और संचयीमान कर्म। प्रारब्ध कर्म वह कर्म है जिसका परिणाम मिलना शुरू हो गया है। संचित कर्म वह कर्म है जिन कर्मों का संचय हो गया है किंतु परिणाम मिलना शेष है और संचयीमान कर्म वह कर्म है जिसे वर्तमान में संचित किया जा रहा है। अभी संचय ही पूरा नहीं हुआ तो परिणाम मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इनको जैन दर्शन में क्रमशः उदय, सत्ता और बंध कहा गया है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि कर्म और पुनर्जन्म में सभी भारतीय दर्शन की आस्था है।

1.2.5 अज्ञान बंधन का कारण है

प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक अज्ञान को बंधन का कारण मानते हैं। सांख्य दार्शनिक कहते हैं कि अज्ञान से ही बंधन होता है। बौद्ध दर्शन में चार आर्य सत्य का ज्ञान न होना ही बंधन है। जैन दर्शन में छःद्रव्य और नौ तत्त्व के अज्ञान को बंधन माना गया है। शंकराचार्य ने माया को बंधन का कारण माना है। नैयायिक और वैशेषिक क्रमशः सोलह पदार्थ एवं सात पदार्थों के अज्ञान को बंधन माना है। इस प्रकार लगभग सभी भारतीय दार्शनिक अज्ञान को बंधन का कारण मानते हैं।

1.2.6 मोक्ष का कारण ज्ञान है—

प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक बंधन का विपरीत मोक्ष को मानते हैं और बंधन में जिस तत्त्व की अज्ञानता होती है, उन्हीं तत्त्वों के ज्ञान को मोक्ष कहा गया है। बौद्धों के अनुसार निर्वाण का कारण चार आर्यसत्त्यों का ज्ञान एवं अष्टांग मार्ग है। जैन में दर्शन, ज्ञान और चारित्र को मोक्ष का मार्ग माना गया है। सांख्य दार्शनिक पुरुष और प्रकृति के ज्ञान को मोक्ष का कारण मानते हैं। ऋषि गौतम सोलह पदार्थ के ज्ञान को मोक्ष का कारण मानते हैं। इस प्रकार सभी भारतीय दार्शनिक कमोबेश ज्ञान को मोक्ष का कारण स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि सभी भारतीय दार्शनिकों की कमोबेश आस्था है पुनर्जन्म में है। संसार दुःखों का घर है। दुःख मुक्ति से ही मोक्ष संभव है। मोक्ष का विपरीत बंधन है। बंधन का कारण अज्ञान है और मोक्ष का कारण ज्ञान है। इस प्रकार की आस्था सभी भारतीय दार्शनिक के विचारों में दृष्टिगोचर होती है।

1.3 पाश्चात्य विचारकों के आरोप और परिहार?

भारतीय दर्शन की इन्हीं विशेषताओं का अवलोकन कर पाश्चात्य दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन पर निम्नलिखित आरोप लगाए हैं—

1. भारतीय दर्शन में मौलिकता का अभाव है।

2. भारतीय दर्शन निराशावादी है।
3. भारतीय दर्शन में नैतिकता का अभाव है।

जहां तक भारतीय दर्शन में मौलिकता के अभाव की बात है, यह आरोप कोरा काल्पनिक है। चूंकि भारतीय दर्शनों का आधार वेद और उपनिषद हैं, इसलिए ये आरोप लगाये गये हैं, किंतु ये सत्य नहीं हैं। सभी भारतीय दार्शनिकों ने वेद को आधार मानकर अपने विचारों में नवीनता और मौलिकता को स्थान दिया है। यदि ऐसा न होता तो केवल वेदांत दर्शन में अद्वैत वेदांत, विशिष्टाद्वैत वेदांत, द्वैत वेदांत, द्वैताद्वैत वेदांत और शुद्धाद्वैत वेदांत आदि भेद ना होते। एक ही विचारधारा में इतने भेद होने पर यह कहना प्रासंगिक होगा कि भारतीय दर्शन में मौलिकता के अभाव का आरोप सत्य नहीं है। जैन दर्शन में श्वेतांबर-दिगंबर का भेद और उनके कई उपभेद भी इस सच्चाई को व्यक्त करते हैं। बौद्ध दर्शन में शून्यवाद, विज्ञानवाद, सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक का भेद भी इस सच्चाई को स्पष्ट करता है। जहां तक निराशावाद का प्रश्न है, प्रायः पाश्चात्य दार्शनिकों ने भारतीय दार्शनिकों के वर्णित दुःखों के आधार पर यह आरोप लगाया है किंतु जिन-जिन दार्शनिकों ने दुःख के अस्तित्व को स्वीकार किया है तो उन्होंने दुःख-निरोध-मार्ग पर भी बल दिया है। दुःख प्रारंभिक बिंदु हो सकता है तो अंतिम निष्कर्ष दुःख निरोध मार्ग है, अतः केवल संसार दुःखों का घर है इस आधार पर इतना बड़ा आरोप लगाना उचित प्रतीत नहीं होता है।

जहां तक भारतीय दर्शनों में नैतिकता के अभाव की बात है, पाश्चात्य दार्शनिक मैकेंजी यह कहता है कि भारतीय दर्शनों में नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। यह आरोप लगाते हुए शायद वह भूल गए कि चार्वाक से लेकर वेदांत तक सभी भारतीय दर्शनों में नैतिकता की चर्चा की गई है। जैन दर्शन में अणुव्रत, महाव्रत, त्रिरत्न, बौद्ध दर्शन में अष्टांग मार्ग, सांख्य दर्शन में ज्ञान, योग दर्शन में अष्टांग योग, न्याय वैशेषिक में ज्ञान तथा वेदांत में भी आध्यात्मिक ज्ञान को महत्व दिया गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि पश्चात्य दार्शनिकों द्वारा भारतीय दर्शन पर लगाए गए आरोप न केवल मिथ्या हैं अपितु कपोल-कल्पित भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय दर्शन के सतही अध्ययन के आधार पर ये आरोप लगाए गए हैं, जो बेबुनियाद हैं।

बोध प्रश्न

1. बौद्ध दर्शन में मोक्ष के लिए किस शब्द का उपयोग हुआ है?
2. जैन दर्शन में प्रारब्ध कर्म को क्या कहा गया है?
3. चार आर्यसत्त्यों के नाम लिखिए?
4. सोलह पदार्थ किस दर्शन में माने गए हैं?
5. वैशेषिक दर्शन में पदार्थ कितने हैं?

1.4 आचार्य हरिभद्र सूरि एवं षड्दर्शन समुच्चय

आचार्य हरिभद्र एक श्वेतांबर भिक्षुक, जैन चिन्तक, दार्शनिक, डॉक्सोग्राफर और लेखक थे। उनके जन्म को लेकर कई विरोधाभासी तिथियां बताई गई हैं। परंपरा के अनुसार उनका समय 459–529 ई.पू. माना जाता है। 1919 में, जिनविजय नाम के एक जैन भिक्षु ने बताया कि धर्मकीर्ति के साथ उनकी परिचितता को देखते हुए, अधिक संभावित विकल्प 650 के बाद का होगा। अपने लेखन में, हरिभद्र खुद को जिनभद्र और विद्याधर कुल के जिनदत्त के छात्र के रूप में पहचानते हैं। उनके जीवन के कई वृत्तांत कुछ हद तक विरोधाभासी भी रहे हैं। उन्होंने योग पर कई किताबें लिखीं, जैसे कि योगाद्रिसमुक्कया और तुलनात्मक धर्म पर, जिसमें हिंदुओं, बौद्धों और जैनियों के सिद्धांतों की रूपरेखा और विश्लेषण किया है।

1.4.1 जीवन परिचय

हरिभद्र का जन्म धर्मपुरी में हुआ था और वह एक शिक्षित ब्राह्मण थे, जिन्होंने निर्णय लिया कि वह ऐसे किसी भी व्यक्ति का शिष्य बनेंगे जो ऐसा वाक्य बता सके जिसे हरिभद्र समझ नहीं पायें। याकिनी महत्तरा नाम की एक जैन भिक्षुणी को एक श्लोक सुनाने के बाद जिसे वह समझ नहीं सके, उन्हें उसके शिक्षक जिनभद्र के पास भेजा गया, जिन्होंने हरिभद्र से वादा किया कि यदि हरिभद्र जैन धर्म में दीक्षा स्वीकार करते हैं तो वह उन्हें निर्देश देंगे। हरिभद्र सहमत हुए, और उन्होंने याकिनीपुत्र (याकिनी का आध्यात्मिक पुत्र) अपने को स्वीकार किया।

दूसरे विवरण के अनुसार उस समय बौद्ध और जैन भिक्षुओं के बीच संबंधों की स्थिति को भी दर्शाता है। इस कहानी में हरिभद्र अपने दो भतीजों को पढ़ा रहे थे। ये भतीजे एक बौद्ध मंदिर में गुप्त रूप से तर्कशास्त्र का अध्ययन करने गए थे, और वहां पता चलने पर भाग गए। उनमें से एक को बौद्धों ने मार डाला, और दूसरे की बाद में दुःख से मृत्यु हो गई। हरिभद्र ने इस मठ के भिक्षुओं को दार्शनिक बहस में उलझाया और विजयी हुए। फिर उसने हारने वाले भिक्षुओं को गर्म तेल के कुंड में कूदने का आदेश दिया। जब हरिभद्र के स्वयं के शिक्षक ने यह सुना, तो उन्होंने हरिभद्र को अपने क्रोध और मोह के अनुचित प्रदर्शन के लिए गंभीर तपस्या करने का आदेश दिया। हरिभद्र ने ऐसा ही किया, और 'विरहंका' की उपाधि ली, जिसका अर्थ है 'एक विशिष्ट विशेषता के रूप में अपने भतीजों से अलगाव (या विरह) होना'।

परंपरा उन्हें लगभग 1440 विभिन्न पुस्तकों के लेखन का श्रेय देती है। अधिक विश्वसनीय संख्या 100 के आसपास है, जिनमें से कुछ जैन धर्म में सबसे अधिक सम्मानित कृतियों में से हैं। विद्वान एचआर कपाड़िया हरिभद्र को सत्तासी कृतियाँ, जिनविजय छब्बीस कृतियाँ और सुखलाल संघवी सैंतालीस कृतियों का श्रेय देते हैं। कुछ लोगों ने यह भी सुझाव दिया है कि, हरिभद्र से संबंधित पुस्तकों की भाषा और विषय सामग्री के आधार पर, दो हरिभद्र थे, जिनमें से पहला, हरिभद्र विरहंका, छठी शताब्दी के आसपास रहा होगा, और दूसरा, हरिभद्र याकिनीपुत्र, एक भिक्षु था जो आठवीं शताब्दी के आसपास एक मंदिर में रहता था। स्वयं श्वेतांबर समुदाय के विद्वान यह मानते हैं कि हरिभद्र केवल एक ही थे, ऐसा

समझा जा सकता है।। उनकी महत्वपूर्ण शिक्षाओं में अन्य परंपराओं के प्रति सहिष्णुता थी, और उस अंतिम वास्तविकता को कई अलग-अलग दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया गया है।

हरिभद्र का षड्दर्शन-समुच्चय तो ऐसा दर्शन ग्रन्थ है, जिसमें भारतीय प्राचीन छहों दर्शनों का विवेचन सरल और विशद रूप में किया गया है तथा जैन दर्शन को अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। इसके द्वारा जैनोतर विद्वानों को जैन दर्शन का सही आकलन हो जाता है। प्रस्तुत पुस्तक में बौद्ध दर्शन, न्याय दर्शन, सांख्य दर्शन और वैशेषिक दर्शन के साथ-साथ जैन दर्शन का बहुत ही बिस्तार में वर्णन मिलता है। श्री हरीभद्र का यह ग्रन्थ भारतीय दर्शन के अध्ययन हेतु अत्यंत उपयोगी पुस्तक है। इसमें चार्वाक दर्शन का वर्णन लोकायत दर्शन के रूप में हुआ है। कुल मिलाकर दर्शन के विद्यार्थियों के लिए यह अत्यंत उपयोगी पुस्तक है।

1.5 तत्त्व का स्वरूप, तत्त्व के प्रकार, तत्त्व चिंतन का लक्ष्य, अस्तिकाय

तत्त्वचिंतन दर्शन का प्राण है। दर्शन की प्रत्येक परम्परा में तत्त्व का न्यूनाधिक चिंतन अवश्य हुआ है। किसी भी परम्परा ने तत्त्व की उपेक्षा नहीं की है। जब भी हम किसी दर्शन के बारे में बात करते हो तो पहला प्रश्न यही करते हो कि अमुक दर्शन में कितने तत्त्व स्वीकार किये गये हो? अमुक दर्शन में तत्त्व का क्या स्वरूप है? इससे यह सिद्ध होता है कि हर दार्शनिक परम्परा का आधार है उसका तत्त्व सम्बन्धी चिंतन। यदि कहें कि दर्शन परम्परा का आकलन ही तत्त्वों के आधार पर होता है तो यह कोई असंगत कथन नहीं। कल्पना कीजिए क्या तत्त्व के बिना कोई परम्परा जीवित रह सकती है। यह बात दूसरी है कि तत्त्व का स्वरूप क्या हो और तत्त्व कितने हों? भारतीय परम्परा में दार्शनिकों में तत्त्व की संख्या को लेकर मतभेद रहा है। सांख्य यदि 25 तत्त्व मानते हो तो योग दर्शन के प्रणेता ने ईश्वर को मिलाकर 26 तत्त्व माने हो। नैयायिकों ने 16 तत्त्वों (पदार्थों) का उल्लेख किया है तो वैशेषिकों ने सात तत्त्वों (पदार्थों) का उल्लेख किया है। चार्वाक चार भूत तत्त्वों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) को ही महत्त्व देता है। बौद्धों में चार आर्यसत्य ही सब कुछ हो। मीमांसकों के अनुसार वेदविहित कर्म और धर्म ही मूल तत्त्व हो। “एकमेव परमार्थ सत् अद्वयं ब्रह्म” कहकर शंकराचार्य ब्रह्म को ही एकमात्र मूल तत्त्व स्वीकार करते हो। जैन दर्शन में दो तत्त्व, सात तत्त्व एवं नवतत्त्व का उल्लेख मिलता है। यहां हमारा उद्देश्य जैन दर्शन की तत्त्व व्यवस्था पर प्रकाश डालना है।

1.5.1 तत्त्व क्या है?

तत्त्व का अर्थ है पदार्थ, पारमार्थिक वस्तु या सत्।

तत्त्व शब्द ‘तत्’ शब्द से बना है। संस्कृत भाषा में तत् शब्द सर्वनाम शब्द है। सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हो। तत् शब्द में भाव अर्थ में ‘त्व’ प्रत्यय लगाने से तत्त्व शब्द बना है। जैनदर्शन में तत्त्व, सत्त्व, सार, द्रव्य, अर्थ और यथार्थ आदि एकार्थक एवं पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त हुए हो। यहां मूल चार शब्द हो—सत्, द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ। तत्त्वार्थ सूत्र में ‘सत् द्रव्य लक्षणं’ कहकर सत् और द्रव्य को पर्यायवाची माना गया

है। अस्तित्व की दृष्टि से जो मूल वस्तु या द्रव्य है वही तत्त्व है, जिसे हम द्रव्य भी कहते हो। इनकी संख्या छः है।

तत्त्व का दूसरा अर्थ है 'तत्त्वं पारमार्थिकं वस्तु' अर्थात् जो परमार्थ यानि मोक्ष की प्राप्ति में साधक या बाधक बनता है, वह पारमार्थिक पदार्थ तत्त्व है। इस रूप में नौ तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। अतः यहां यह कहना प्रासंगिक होगा कि जैनदर्शन में तत्त्व को समझाने के लिए दो पद्धतियां काम में ली गई हो—जागतिक एवं आत्मिक। जहां लोक के विवेचन की प्रमुखता है, वहां छः द्रव्यों की चर्चा है। जहां आत्मा को केन्द्र में रखकर विवेचन हो, वहां नवतत्त्व का विवेचन उपलब्ध होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मोक्ष साधना में उपयोगी ज्ञेय पदार्थ को तत्त्व कहते हो। भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, उत्तराध्ययन आदि अनेक आगम नवतत्त्वों की विवेचना से भरे हुए हो।

णव सभ्भावपयत्था पण्णत्ता तं जहा

जीवा, अजीवा, पुण्णं, पावं, आसवो, संवरो, णिज्जरा, बंधो, मोक्खो। (ठाणं 9/6)

आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, आचार्य नेमिचन्द्र के द्रव्यसंग्रह में भी नवतत्त्वों का विश्लेषण हुआ है। उमास्वाती का तत्त्वार्थसूत्र तो नवतत्त्वों के सुन्दर एवं सांगोपांग विवेचन से परिपूरित है। आचार्यश्री तुलसी ने जैनतत्त्वविद्या भाग-1, 2, 3 में नौ तत्त्वों की अच्छी मीमांसा की है।

1.6.2 तत्त्व का स्वरूप

जैन दर्शन में विभिन्न दृष्टियों से तत्त्व का विवेचन हुआ है। जीव और अजीव इन दो तत्त्वों को स्वीकार करने के कारण जैन दर्शन को द्वैतवादी दर्शन भी कहा जाता है। स्थानांगसूत्र और द्रव्यसंग्रह में दो तत्त्वों का विवेचन है। दूसरी दृष्टि से जीव अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष सात तत्त्व की अवधारणा है। तीसरी दृष्टि से पाप, पुण्य को स्वतंत्र मानकर नव तत्त्व माने गये हो। जिन ग्रंथों में सात तत्त्वों का विवेचन हुआ है वहां पुण्य-पाप को बन्ध में समाहित किया गया है। अधिकतर आगम ग्रंथों में नवतत्त्व और नवपदार्थ का वर्णन उपलब्ध होता है। वे नौ तत्त्व इस प्रकार हैं—1. जीव 2. अजीव 3. पुण्य 4. पाप 5. अश्रव 6. संवर 7. निर्जरा 8. बंध और 9. मोक्ष।

1.6.3 नवतत्त्वों का क्रम

यहां प्रश्न होता है कि नवतत्त्वों में जीव ही सबसे पहले क्यों? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि सारी घटनाएं जीव के साथ ही घटती हो। वही ज्ञाता है, शुभ और अशुभ कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता एवं स्वामी है। वही पुद्गलों का उपभोक्ता है। संसार में मोक्ष के लिए भी वही प्रवृत्ति करता है अतः नवतत्त्वों में प्रधान जीव ही है इसलिए क्रम में सबसे पहले वही है। चूंकि जीव के हर कार्य में चाहे उसकी गति, स्थिति, उपभोग एवं अवगाहना हो, उन सबमें अजीव उपयोगी होता है, अतः जीव के बाद अजीव का स्थान है। दोनों मिलते हो तो बन्ध होता है अतः बन्ध तीसरे स्थान पर है। बन्धन शुभ और अशुभ होता है। शुभबन्धन पुण्य और अशुभबन्धन पाप है अतः बन्धन के बाद पुण्य और पाप का क्रम है। इन शुभ-अशुभ

कर्मों को आकर्षित करने वाला तत्त्व आस्रव है। जीव द्वारा कर्मों को रोकना 'संवर', अन्दर के कर्मों को निकालना निर्जरा और साधना से जीव का कर्म से पूरी तरह रहित हो जाना मोक्ष हो। उत्तराध्ययन सूत्र में इसी क्रम को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

“जीवाजीवा य बंधो य, पुण्यं पावासवो तह ।

संवरो णिज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव ।।”

चूँकि संसारी आत्मा को पुण्य से सुख का वेदन और पाप से दुःख का वेदन होता है, अतः कुछ ग्रंथों में पुण्य और पाप का स्थान बन्ध और आस्रव के पहले भी रखा गया है। इसी प्रकार कहीं आस्रव को बन्ध से पहले और कहीं बन्ध के बाद में माना गया है।

नवपदार्थ की यह व्यवस्था तालाब के दृष्टान्त से भी समझी जा सकती है—जीव तालाब है और अजीव अतालाब रूप है। तालाब के अन्दर का पानी बन्ध है। पुण्य और पाप तालाब से निकलते हुए साफ और गन्दे पानी के समान है। आस्रव तालाब का नाला है। नाले को रोक देना संवर है। उलीचकर या मोरी (नाली) से पानी निकालना निर्जरा है। खाली तालाब मोक्ष है।

षड्दर्शन समुच्चय में नौ तत्त्वों का क्रम इस प्रकार बताया गया है—

जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमास्रवसंवरो ।

बन्धो विनिर्जरामोक्षौ नव तत्त्वानि तन्मते ।।

1.6.4 जीव-अजीव की दृष्टि से नवतत्त्व

जैसा कि पूर्व में ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मूलतत्त्व दो ही हो—जीव और अजीव। इन्हीं के संयोग एवं वियोग से अन्य तत्त्वों को समझा जाता है अतः अन्य सात तत्त्व इन्हीं दो में ही समाहित हो। बन्ध पुद्गल की अवस्था विशेष है, अतः बन्ध अजीव में समाहित होता है। इसी तरह पुण्य, पाप, बंध भी अजीव के पर्याय हो अतः अजीव में समाहित हो जाते हो। संवर, निर्जरा एवं मोक्ष ये जीव के पर्याय हो अतः जीव में समाहित हो जाते हो। आस्रव आत्मा की शुभ-अशुभ परिणति है, अतः जीव है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अजीव, पुण्य, पाप, बन्ध ये चार तत्त्व अजीव हो। जीव, आस्रव संवर, निर्जरा एवं मोक्ष ये पांच तत्त्व जीव हो।

1.6.5 तत्त्व ज्ञेय, हेय और उपादेय रूप में

उपर्युक्त नवतत्त्व ज्ञेय, हेय और उपादेय के रूप में भी विभक्त किये जा सकते हो। ज्ञेय से तात्पर्य है जिसे जाना जाये अर्थात् जो जानने योग्य है, हेय से तात्पर्य है जो उपेक्षा के योग्य है, तिरस्कार के योग्य है अर्थात् जो छोड़ने के योग्य है और उपादेय से तात्पर्य है जो आत्म-हित के लिए ग्रहण करने योग्य है। अध्यात्म के पथ पर अग्रसर होने वाले हर व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह जीव और अजीव दोनों को जाने। इन दोनों को जाने बिना वह मुक्ति की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। जीव की अशुभ प्रवृत्ति हेय है। शुभ प्रवृत्ति उपादेय है। पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध ये चारों हेय हो। हर साधक के लिए मोक्ष

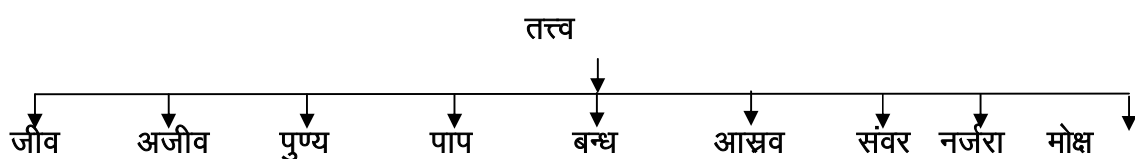
की उपयोगिता है अतः मोक्ष उसके लिए उपादेय है और मोक्ष के कारण हो संवर और निर्जरा। इस प्रकार आत्मोन्नति चाहने वाले हर व्यक्ति के लिए संवर, निर्जरा एवं मोक्ष उपादेय हो।

1.6.6 मूर्त और अमूर्त

अब प्रश्न यह उठता है कि इन नव तत्त्वों में कितने तत्त्व मूर्त (रूपी) हो और कितने अमूर्त (अरूपी), मूर्त से तात्पर्य है जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हो। जिसमें ये गुण नहीं हो वह अमूर्त अर्थात् अरूपी है। इन नवतत्त्वों में जीव अमूर्त है क्योंकि उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं है। आश्रव, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष भी अमूर्त हो। अजीव के पांच भेद हो—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों अमूर्त या अरूपी हो। पुद्गल मूर्त है। बन्ध, पुण्य और पाप भी पौद्गलिक होने से मूर्त (रूपी) हो।

1.6.7 तत्त्व वर्गीकरण या तत्त्व के प्रकार

जैन दर्शन में नवतत्त्व माने गये हो, जिसे निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है—



1.6.7.1 जीव तत्त्व

जिसमें चेतना हो, सुख—दुःख का संवेदन हो उसे जीव कहा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में ‘जीवो उवओग लक्खणो’ कहकर इस तथ्य को अभिव्यक्त किया गया है। चेतना जीव का स्वरूप लक्षण है, आगन्तुक लक्षण नहीं, इसीलिए ‘उपयोग लक्षणो जीवः’ कहकर जीव को परिभाषित किया गया है अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है। जीव लक्ष्य है और उपयोग उसका लक्षण है। प्रश्न उठता है कि उपयोग क्या है? समाधान के तौर पर कहा गया है कि ‘चेतना व्यापार उपयोगः’ चेतना का व्यापार ही उपयोग है। आत्मा का बोधरूप व्यापार ही उपयोग है। बोध का कारण है—चेतनाशक्ति। जिसमें चेतना हो उसी में बोध क्रिया होती है। इस प्रकार जैन दर्शन में जीव ज्ञान—चैतन्य स्वरूप तथा सदा प्रकाशित है। ज्ञान जीव का एक विशिष्ट गुण है, जिसके कारण जीव में जानने की प्रवृत्ति होती है। द्रव्य के रूप में जीव चेतनामय अविभाज्य असंख्य—प्रदेशी पिण्ड है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव स्वयं कर्ता, भोक्ता एवं स्वामी होता है। वह सांख्य के पुरुष (आत्मा) की तरह अकर्ता, भोक्ता नहीं है। सांख्य में पुरुष (आत्मा) कुछ करता नहीं है, किंतु फिर भी भोक्ता है। कर्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार जो जैसा करता है, वैसा ही फल भोगता है अतः जैनदर्शन जीव को कर्ता के साथ ही भोक्ता भी मानता है। वही अपने कर्मफलों का स्वामी भी है।

यह संसारी और मुक्त के भेद से दो प्रकार का है। इस तथ्य को तत्त्वार्थ सूत्र में 'संसारिणो मुक्ताश्च' सूत्र के द्वारा समझाया गया है। जो जीव कर्मबंधन से युक्त है, वह संसारी है और जो कर्मफल से पूर्णतः रहित हो गये हो, वे मुक्त हो। जीव की परमविशुद्ध दशा ही मोक्ष है। संसारी जीव दो प्रकार के होते हो—त्रस और स्थावर। जो जीव गतिमान होते हो, उन्हें त्रस और जो स्थिर होते हो उन्हें स्थावर कहते हो। स्थावर जीव सबसे अपूर्ण—अविकसित होता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति के जीव स्थावर जीव कहलाते हो। इसमें केवल स्पर्शेन्द्रिय होता है अतः इन्हें केवल स्पर्श का भान होता है। गतिशील जीव (त्रस) दो इन्द्रिय वाले होते हो, जिन्हें द्वीन्द्रिय कहा जाता है। इनमें त्वचा और जिह्वा है। ये सीप, घोंघा आदि हो। चींटी आदि त्रीन्द्रिय जीव हो। इसमें त्वचा, जिह्वा तथा नासिका ये तीनों इन्द्रियां है। मक्खी, मच्छर, भोरा आदि चतुरिन्द्रिय जीव हो। इनमें चार इन्द्रियां हो—त्वचा, जिह्वा, नासिका तथा चक्षु। उच्च पशुओं, पक्षियों तथा मनुष्यों में पांच इन्द्रियां होती हो, जो इस प्रकार हो—त्वचा, जिह्वा, नासिका, चक्षु तथा कर्ण। एकेन्द्रिय के भी दो भेद किये गये हो—सूक्ष्म और बादर। पंचेन्द्रिय के भी दो भेद किये गये हो—संज्ञी और असंज्ञी। एकेन्द्रिय जीवों को ध्यान में रखकर सूक्ष्म और बादर भेद किये गये हो। शेष सभी जीव बादर ही होते हो। इसी प्रकार संज्ञी और असंज्ञी की कल्पना पंचेन्द्रिय जीवों को केन्द्र में रखकर की गयी है। शेष चतुरिन्द्रिय तक वे सभी जीव असंज्ञी होते हो। सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो। बादर जीव सूक्ष्म जीवों की तुलना में कम व्याप्त हो।

सूक्ष्म—बादर, संज्ञी—असंज्ञी सभी जीव उत्पत्ति के समय अपर्याप्त होते हो। जिस जीव को जितनी पर्याप्तियां प्राप्त होनी चाहिए, जब तक उनका निर्माण नहीं हो पाता तब तक वे अपर्याप्त कहलाते हो। उन पर्याप्तियों का बन्धकाल पूरा होने से ही वह जीव पर्याप्त होता है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय इस प्रकार सात विकल्पों के अपर्याप्त, पर्याप्त के भेद से जीव के चौदह भेद हो जाते हो। जीव के संदर्भ में आचार्य हरिभद्रसूरि उद्धृत करते हैं—

चैतन्यलक्षणो जीवो यश्चैतद्विपरीतवान्।

अजीवः स समाख्यातः पुण्यं सत्कर्मपुद्गलाः॥

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जैन दर्शन में जीव का बहुत सूक्ष्म विवेचन हुआ है।

1.6.7.2 अजीव तत्त्व

जीव का प्रतिपक्षी तत्त्व अजीव है। न जीव अर्थात् जो जीव नहीं है वह अजीव है। जिसमें चेतना है वह जीव है और जिसमें चेतना नहीं है वह अजीव है। जो उपयोगवान है वह जीव है और जो अनुपयोगवान है वह अजीव है। जिसमें बोध क्रिया है वह जीव है, जिसमें बोध क्रिया नहीं है वह अजीव है। जैनदर्शन जीव के साथ—साथ अजीव को भी नित्य, शाश्वत एवं उत्पत्ति विनाश से रहित सत्ता मानता है। इसीलिए जैनदर्शन को द्वैतवादी भी कहते हो। सांख्य भी द्वैतवादी है। सांख्य प्रकृति एवं पुरुष की सत्ता को मानता है। पुरुष

जीव है तो प्रकृति अजीव है। दोनों के संयोग से ही संसार का उद्भव होता है तो दोनों के वियोग से मोक्ष संभव बनता है। यही स्थिति जैनदर्शन में भी है।

अजीव के प्रकार

अजीव द्रव्य दो प्रकार के—अरूपी और रूपी। जिनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शगुण नहीं हो, वे अरूपी और जिनमें ये हो वे रूपी कहलाते हो। धर्म, अधर्म, आकाश और काल में ये चारों गुण नहीं हो, अतः ये अरूपी हो। पुद्गल में ये चारों गुण हो अतः पुद्गल को रूपी कहा गया है। संक्षेप में अजीव धर्म की विवेचना इस प्रकार है—

धर्मास्तिकाय—गतिसहायो धर्मः—जो जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से अन्नय सहायक होता है, उसे धर्मास्तिकाय कहा गया है।

अधर्मास्तिकाय—स्थितिसहायोऽधर्मः—जो जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन भाव से अनन्य सहायक है, उसे अधर्मास्तिकाय कहा गया है।

आकाशास्तिकाय—अवगाहलक्षण आकाशः—जो सब द्रव्यों को अवगाहना देता है अर्थात् अपने में स्थान देता है, उसे आकाशास्तिकाय कहा गया है। यहां अवगाह का अर्थ है—अवकाश या आश्रय। आकाश के दो भेद हैं लोक व अलोक। दिशाएं आकाश का ही विभाग है।

काल—कालः समयादिः—जिसके कारण वर्तना, परिणाम, क्रिया, प्राचीनता एवं नवीनता संभव है, उसे काल कहते हो। जैन सिद्धान्त दीपिका में इसका प्रतिपादक सूत्र इस प्रकार है—वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वादिभिर्लक्ष्यः।”

पुद्गलास्तिकाय—यह विस्तृत रूपी तत्त्व है। ‘पूरणगलनधर्मत्वात् इति पुद्गलः’ अर्थात् पुद्गल पूरण—गलन स्वभाव वाला है। यह पूरण होते—होते अचित्तमहास्कन्ध का रूप ले लेता है और गलन करते—करते परमाणु का रूप ले लेता है। परमाणु इसकी सबसे सूक्ष्मतम और अविभाज्य इकाई है।

धर्म, अधर्म और आकाश के तीन—तीन भेद हो—स्कन्ध, देश और प्रदेश। काल का कोई भेद नहीं है। पुद्गल के चार भेद हो—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु। स्पर्शरसगन्धवर्णवान् पुद्गलः।

स्कन्ध—परमाणु एकीभावः स्कन्धः। अखण्ड वस्तु को अथवा परमाणुओं के एकीभाव को स्कन्ध कहा जाता है, जैसे पट (वस्त्र)।

देश—बुद्धिकल्पितो वस्त्वंशो देशः। स्कन्ध का छोटा विभाग देश कहलाता है। जैसे वस्त्र का कोई भाग।

प्रदेश—निरंशः प्रदेशः। वस्तु के संलग्न उसके अविभाज्य भाग को प्रदेश कहते हो। यह अपने प्रदेशी से कभी अलग नहीं होता।

परमाणु—अविभाज्य परमाणुः। पुद्गल का वह अविभाज्य हिस्सा परमाणु है, जिसका पुनर्विभाजन संभव नहीं है। यह अविभाज्य एवं निरवयव होता है।

प्रश्न यह उठता है कि परमाणु और प्रदेश में क्या अन्तर है? परमाणु स्कन्ध से पृथक् हो सकता है परन्तु प्रदेश स्कन्ध से कभी अलग नहीं होता है।

1.6.7.3 पुण्य तत्त्व

नवतत्त्वों में जीव और अजीव के बाद तीसरा स्थान पुण्य का है। 'शुभं कर्म पुण्यम्' शुभ कर्मों को पुण्य कहा गया है। वास्तविक परिभाषा के अनुसार सात वेदनीय आदि शुभ कर्मों को पुण्य कहा जाता है। पहले बंधे हुए शुभ कार्य जब शुभ फल देते हैं तो वे पुण्य कहलाते हैं। किंतु कारण में कार्य का उपचार होने से जिन-जिन निमित्तों से शुभकर्म का बंध होता है, उन्हें भी पुण्य माना जाता है। जैनदर्शन में पुण्य को भी बन्धनकारी माना गया है। आचार्य भिक्षु के अनुसार पुण्य और पाप दोनों जंजीर हो। दोनों बांधने का कार्य करते हो। एक सोने की जंजीर है और दूसरी लोहे की पर दोनों बांधती ही हो। पुण्य को सोने की जंजीर माना गया है तो पाप को लोहे की जंजीर। तच्च धर्माविनाभावि-वह (पुण्य) धर्म का अविनाभावि है-धर्म के बिना अकेला नहीं होता।

पुण्य के भेद—पुण्य—पदार्थ, योग और विनय से होता है, इसलिए पुण्य को निम्न तीन प्रकार का माना जा सकता है—

1. पदार्थ पुण्य,
2. योग पुण्य,
3. विनय पुण्य।

1. पदार्थपुण्य—पुण्य के बंधन में चूंकि पदार्थ निमित्त होता है, इसलिए इसे पदार्थ पुण्य कहा गया है। यह पांच प्रकार का है—

1. अन्न पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले आहार दान के निमित्त से बंधने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में अन्न पुण्य है।
2. पान पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले (पानक) पानी आदि के निमित्त से बंधने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में जल पुण्य है।
3. लयन पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले मकान आदि के निमित्त से बंधने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में लयन पुण्य है।
4. शयन पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले पाट बाजोट आदि के निमित्त से बंधने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में शयन पुण्य है।
5. वस्त्र पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले वस्त्र के निमित्त से बंधने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में वस्त्र पुण्य है।

2. योगपुण्य—यह पुण्य तीन प्रकार का है—

1. मनपुण्य—मन की शुभ प्रवृत्ति से बंधने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में मन पुण्य है।
2. वचनपुण्य—वचन की शुभ प्रवृत्ति से होने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में वचन पुण्य है।
3. कायपुण्य—शरीर की शुभ प्रवृत्ति से होने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में काय पुण्य है।

3. विनयपुण्य—पंचपरमेष्ठी आदि महापुरुषों को किये जाने वाले नमस्कार के निमित्त से बंधने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में नमस्कार पुण्य है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि—पुण्य का बंध सत्प्रवृत्ति से होता है। सत्प्रवृत्ति मोक्ष का उपाय है अतः वह धर्म है। धार्मिक प्रवृत्ति के साथ ही पुण्य का बंध होता है। जिस प्रवृत्ति में धर्म नहीं होता वहां पुण्य बंध भी नहीं होता। यद्यपि पुण्य बंध के प्रयोजन से धार्मिक प्रवृत्ति करना वर्जित है। आत्मविशुद्धि के प्रयोजन से धार्मिक आचरण किया जाए तो पुण्य बंध वहां सहज रूप में होगा ही। जिस प्रकार अनाज के साथ भूसा होता ही है, उसी प्रकार धर्म के साथ पुण्य भी होता है।

1.6.7.4 पाप तत्त्व

अशुभ कर्म पापम्—अशुभ कर्म को पाप कहते हैं।

पुण्य का प्रतिपक्षी तत्त्व पाप है। पुण्य यदि शुभ कर्म है तो पाप अशुभ कर्म है। पुण्य जहां शुभ प्रवृत्ति के द्वारा होता है, वहीं पाप अशुभ या असत् प्रवृत्ति से होता है। पाप जीव की अधोगति का कारण होता है। असद आचरण आत्मा को पाप की ओर ले जाता है। ठाणों में अठारह प्रकार के पाप माने गये हो—1. प्राणातिपात (हिंसा), 2. मृषावाद (झूठ), 3. अदत्तादान (चोरी), 4. मैथुन (इन्द्रिय अनियंत्रण), 5. परिग्रह, 6. क्रोध, 7. मान, 8. माया, 9. लोभ, 10. राग, 11. द्वेष, 12. कलह (झगड़ा), 13. अभ्याख्यान (मिथ्या आरोप), 14. पैशुन्य (चुगली), 15. पर-परिवाद (निन्दा), 16. रति-अरति, 17. माया-मृषा, 18. मिथ्या दर्शन शल्य। इनका विवरण इस प्रकार है—

1. **प्राणातिपात**—प्राण वधमूलक अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म। प्रमादवश प्राणों का हरण करना ही प्राणातिपात (हिंसा) है।
2. **मृषावाद**—असत्य वचन रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म मृषावाद है।
3. **अदत्तादान**—अदत्त (न दी गयी) वस्तु को ग्रहण करना चोरी है। इस प्रकार की अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म ही अदत्तादान है।
4. **मैथुन**—अब्रह्मचर्य के सेवन से बंधने वाला पापकर्म मैथुन है। रागवश नर-नारी के संयोग तथा सहवास को मैथुन कहा गया है।
5. **परिग्रह**—‘मूर्च्छाभावो परिग्रहो’ अर्थात् मूर्च्छाभाव को ही परिग्रह कहा गया है। परिग्रह के दो प्रकार हो—बाह्य और आंतरिक। चल-अचल सम्पत्ति को बाह्य परिग्रह तथा प्रमाद, कषाय आदि को आंतरिक परिग्रह कहा गया है। वस्तु संग्रह या ममत्व रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।
6. **क्रोध**—उत्तेजना से बंधने वाला पापकर्म क्रोध है। क्रोध से जीव अभिशप्त होता रहता है।
7. **मान**—अभिमान से बंधने वाला पापकर्म मान है। यानी जीव अभिमानवश अपने आप को सबसे बड़ा समझता है।

8. **माया**—बचना करने, ठगने, धोखाधड़ी करने से बंधने वाला पापकर्म माया है। इससे ऋजुता की हानि होती है।
9. **लोभ**—लालसा, अतिइच्छा से बंधने वाला पापकर्म लोभ है। लोभ से परिग्रह होता है।
10. **राग**—आसक्ति युक्त प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म राग है। यह बन्ध का मूल हेतु है। माया और लोभ अव्यक्त रूप से इसमें रहते हैं। असंयम मूलक सुख वृद्धि का अभिप्राय रागात्मक है।
11. **द्वेष**—द्वेषात्मक, घृणात्मक प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म द्वेष है। क्रोध और मान इसमें अव्यक्त रूप से रहता है। दुःखाभिप्राय द्वेषात्मक है।
12. **कलह**—झगड़ालू वृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।
13. **अभ्याख्यान**—मिथ्या दोषारोपण करना ही अभ्याख्यान है अर्थात् जिसमें जो बुराई न हो उसमें उस बुराई का आरोप करना ही अभ्याख्यान है। अर्थात् मिथ्या दोषारोपण करने वाली प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।
14. **पैशुन्य**—चुगली करने की प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।
15. **पर-परिवाद**—दूसरों की निन्दा करना तथा उसे अन्य स्रोतों की दृष्टि में गिराना ही परपरिवाद है।
16. **रति-अरति**—असंयम में रुचि व संयम में अरुचि के निमित्त से बंधने वाला पाप कर्म।
17. **माया-मृषा**—छल पूर्वक असत्य संभाषण की प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म माया-मृषा पाप है। इस पाप में दो दोषों का एक साथ सेवन होता है।
18. **मिथ्यादर्शन-शल्य**—विपरीत तत्त्व श्रद्धा मिथ्यादर्शन है। यह एक शल्य रूप है। इस क्रिया से बंधने वाला पाप ही मिथ्या दर्शन शल्य है।

यहां यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त वर्गीकरण वस्तुतः पाप के कारणों की तालिका है। कारण में कार्य का उपचार कर असत् प्रवृत्ति को भी 'पाप' कह दिया जाता है।

उपर्युक्त आठरह पापों को कारण के आधार पर चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम पांच पाप को अव्रतपाप, छः से ग्यारह को कषाय पाप, बारह से पन्द्रह को वाक् पाप और अंतिम तीन को मन पाप कहा जा सकता है, जिसका विवरण इस प्रकार है—

यहां अठारह पापों का उल्लेख है। इनके अलावा भी ऐसी असत् प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे पाप का बंध होता है। वे भी पाप के अन्तर्गत ही आएंगी।

1.6.7.5 आस्रवतत्त्व

जैन दर्शन के अनुसार जीव और अजीव स्वतंत्र एवं निरपेक्ष हो। इनमें सम्बन्ध स्थापित करने वाला कोई तत्त्व होना आवश्यक है। इनमें जो सम्बन्ध स्थापित कराता है, वही आस्रव

है इसलिए आस्रव को कर्मों के आने का द्वार भी कहते हो। आश्रव जीव का परिणाम है इसलिए वह जीव है।

‘कर्मकर्षणहेतुरात्मपरिणाम आश्रवः’ कर्म के आकर्षण के हेतुभूत आत्म परिणामों को आश्रव कहते हैं। जिस प्रकार तालाब में जल आने का कारण नाला है, नौका में जल प्रवेश का कारण छिद्र है और मकान में प्रवेश करने का माध्यम दरवाजा है, उसी प्रकार जीव के प्रदेशों में कर्म के आगमन का मार्ग आस्रव है। आस्रव तत्त्व को द्वार भी कहा जाता है क्योंकि इसी रास्ते से कर्म आत्मा में सहजता से प्रवेश करता है। जब तक यह दरवाजा खुला रहता है, तब तक आत्मा और शरीर का सम्बन्ध बना रहता है। आस्रव कर्मबंध का हेतु है, अतः बन्धन में सहायक और मोक्ष के लिए बाधक है और शुभ योग से निर्जरा होती है इस दृष्टि से मोक्ष में साधक भी है। आत्मा और शरीर के सम्बन्ध का मूल कारण आस्रव ही है। यह सम्बन्ध आत्मा और शरीर दोनों की तरफ से होता है।

भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने इसे समझाने के लिए एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है। एक तालाब में अथाह जल भरा हुआ है। पानी के उस अथाह प्रवाह में एक व्यक्ति ने अपनी नौका खड़ी कर दी। उस नौका में सैकड़ों छेद हो। भगवान् महावीर के अनुसार जीव एक नौका के समान है। उसके सैकड़ों छेद आस्रव हो। पुद्गल की प्रकृति है छिद्र में भर जाना। पुद्गल सर्वत्र फैले हुए हो और आस्रव द्वार से आत्मा में प्रविष्ट होते रहते हो। ठाणं में इस आस्रव के पांच भेद बतलाये गये हो—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन्हीं पांच आस्रवों को तत्त्वार्थसूत्र में बन्धन का कारण मानते हुए कहा गया “मिथ्यादर्शनाविरति—प्रमादकषाययोगाः बंधहेतवः”। आस्रव के मूल पांच भेद हो और शेष पन्द्रह भेद योग आश्रव के अवान्तर भेद हैं अतः आश्रव के कुल बीस भेदों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

1. मिथ्यात्व आस्रव, 2. अग्रत (अविरति) आस्रव, 3. प्रमाद आस्रव, 4. कषाय आस्रव, 5. योग आस्रव, 6. प्राणातिपात आस्रव, 7. मृषावाद आस्रव, 8. अदत्तादान आस्रव, 9. मैथुन आस्रव, 10. परिग्रह आस्रव, 11. श्रोत्रेन्द्रिय प्रवृत्ति आस्रव, 12. चक्षुरिन्द्रिय प्रवृत्ति आस्रव, 13. घ्राणेन्द्रिय प्रवृत्ति आस्रव, 14. रसनेन्द्रिय प्रवृत्ति आस्रव, 15. स्पर्शनेन्द्रिय प्रवृत्ति आस्रव, 16. मन प्रवृत्ति आस्रव, 17. वचन प्रवृत्ति आस्रव, 18. काय प्रवृत्ति आस्रव, 19. भण्डोपकरण रखने में अयतना करना आस्रव, 20. सूची कुशाग्र मात्र दोष सेवन करना आस्रव।

यहां आश्रव के पांच भेदों पर विस्तार से प्रकाश डाला जा रहा है—

1. मिथ्यात्व आस्रव—अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धा मिथ्यात्वम्। वीतराग द्वारा बताये गये तत्त्वों पर श्रद्धा न होना अर्थात् विपरीत तत्त्व श्रद्धा का नाम ही मिथ्यात्व आस्रव है। जीव को विकृत करने वाले मोह परमाणुओं के उदय से जो तत्त्व नहीं है उसे तत्त्व समझा जाता है और जो तत्त्व है उसे अतत्त्व समझा जाता है। तत्त्व—अतत्त्व का सम्यग बोध न होने से संसार का मार्ग मोक्षमार्ग बन जाता है और मोक्षमार्ग संसार का मार्ग बन जाता है। यह योग दर्शन का क्लेश और बौद्ध तथा वेदान्त की अविद्या ही है। इसके पांच भेद हैं।

2. अव्रत आस्रव—अप्रत्याख्यानमविरतिः। चारित्रमोह के कारण यह अव्रत आस्रव होता है। चारित्र मोह जब तक सक्रिय रहता है तब तक अंश रूप में या पूर्ण रूप में पापकारी प्रवृत्ति के त्याग की भावना नहीं रहती। अर्थात् मिथ्यात्व आदि पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग न कर पाना ही अव्रत है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पांच आस्रव सेवन का अत्याग ही अव्रत आश्रव है। अव्रत आश्रव देशव्रत और सर्वव्रत दोनों का बाधक है।

3. प्रमाद आस्रव—अनुत्साहः प्रमादः। अध्यात्म में प्रयत्न न कर पाना ही प्रमाद है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि अध्यात्म के प्रति आन्तरिक अनुत्साह होना ही प्रमाद है। यह मोह कर्म के परमाणु से संभव होता है। इससे जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में प्रमाद करता है।

4. कषाय आस्रव—रागद्वेषात्मकोत्तापः कषायः। रागद्वेषात्मक उत्ताप का नाम कषाय है। यह वीतराग चारित्र की उपलब्धि में बाधक है चारित्र मोह का उदयकाल इसका अस्तित्व काल है। संक्षेप में यों कह सकते हो कि कषाय मोहकर्म के उदय से होने वाला जीव का क्रोध, मान, माया, लोभ रूप परिणाम ही कषाय है।

5. योग आस्रव—योग का अर्थ है प्रवृत्ति। इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है 'कायवाङ्मनो व्यापारो योगः' अर्थात् शरीर, वाणी एवं मन के व्यापार को योग कहा गया है। जब तक इनके व्यापार चलते रहते हो तब तक बन्धन बना रहता है। इनके व्यापार दो प्रकार के होते हो—शुभ एवं अशुभ (शुभोऽशुभश्च)। इसी कारण से योग के शुभयोग एवं अशुभयोग के रूप में दो भेद होते हो।

पांच इन्द्रियों के पांच आस्रव हो। यदि इन्द्रियां विषयों (रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द) में राग—द्वेषपूर्वक प्रवृत्ति करती हो तो यह आस्रव होता है। शब्द में आसक्ति से हरिण एवं सर्प का वध होता है। रूप में आसक्ति से पतंगे की मौत होती है। यह दीपक पर न्यौछावर हो जाता है। गन्ध में आसक्ति से भ्रमर कमल में बन्द होकर गजराज द्वारा मसल दिया जाता है। रस में आसक्ति से मछली जाल में फंस जाती है और स्पर्श में आसक्ति से बलवान गजराज भी बन्धन में बंद हो जाता है। यदि एक इन्द्रिय में आसक्ति से यह दशा होती है तो पांचों इन्द्रियों में आसक्ति से क्या दशा होगी? अतः इन्द्रियों के पांचों आस्रवों पर नियंत्रण होना चाहिए। यत्र शुभयोगस्तत्र नियमेन निर्जरा—जहां शुभ योग होता है वहां निर्जरा अवश्य होती है।

इसी प्रकार वस्त्र, पात्र अथवा अन्य किसी भी उपकरण को या संयम के साधन को यतनापूर्वक न रखना एवं न उठाना ही भण्डोपकरण आस्रव है। सूची एवं कुश के अग्रभाग जितनी छोटी वस्तु को भी अयतना से रखना और उठाना सूची कुशाग्रमात्र आस्रव है।

आस्रव के 20 भेदों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. बन्धन के कारणरूप आस्रव के 5 भेद—

1. मिथ्यात्व, 2. अव्रत, 3. प्रमाद, 4. कषाय, 5. योग।

2. अव्रत आस्रव के 5 भेद—

1. प्राणातिपात, 2. मृषावाद, 3. अदत्तादान, 4. मैथुन, 5. परिग्रह

3. इन्द्रिय आस्रव के 5 भेद—

1. श्रोत्रेन्द्रिय, 2. चक्षुरिन्द्रिय, 3. घ्राणेन्द्रिय, 4. रसनेन्द्रिय, 5. स्पर्शनेन्द्रिय

4. योग आस्रव के 3 भेद—

1. मनोयोग, 2. वचनयोग, 3. काययोग

5. अयतना आस्रव के दो भेद—

1. भण्डोपकरण आस्रव, 2. सूची—कुशाग्र मात्र आस्रव

बोध प्रश्न—

आस्रव किसे कहते हैं? इसका निरोध क्यों आवश्यक है?

1.6.7.6 संवर

जैनदर्शन में आस्रव के प्रतिपक्षी तत्त्व को संवर कहा गया है। आश्रव कर्म—बंध का हेतु है। आश्रव का निरोध संवर है। **“आस्रव निरोधः संवरः।”** (जैन सिद्धान्त दीपिका) अर्थात् जो शुभ, अशुभ कर्मों के आगमन के लिए द्वार रूप है, वह आस्रव है और आस्रव के निरोध को ही संवर कहते हो। बाहर से भीतर आने वाली वस्तु को रोक देना ही संवर है। संवर मोक्ष का कारण है अतः बंधन एवं बन्धन के साधनों को रोकना ही संवर है। आत्मा में जिन कारणों से कर्मों का आना—जाना होता रहता है, उन कारणों को दूर कर देने से कर्मों का आना—जाना बन्द हो जाता है। यही संवर है। एक दृष्टि से संवर के दो प्रकार हो—

1. द्रव्य संवर, 2. भाव संवर।

पुद्गलमय कर्मों के प्रवाह का रुक जाना द्रव्य संवर है और कर्मों के कारणभूत राग—द्वेष भावों का रुक जाना भाव संवर है। संवर के बीस भेद हैं।

1. सम्यक्त्व संवर—विपरीत श्रद्धान का त्याग और यथार्थ श्रद्धान का नाम ही सम्यक्त्व संवर है। जीव, अजीव आदि नवतत्त्वों के बारे में यथार्थ श्रद्धा का होना ही सम्यक्त्व संवर है। यह मिथ्यात्व आस्रव का प्रतिपक्षी है। तत्त्वे तत्त्वश्रद्धा सम्यक्त्वम्।

2. व्रत संवर—सावद्यवृत्तिप्रत्याख्यानं विरतिः। सावद्यवृत्ति का त्याग ही व्रतसंवर है। इसके दो भेद हो—देशव्रत और सर्वव्रत। पापयुक्त प्रवृत्तियों का आंशिक त्याग देशव्रत है और इनका जीवनपर्यन्त सम्पूर्ण रूप से त्याग सर्वव्रत संवर है।

दूसरे शब्दों में सर्व सावद्य प्रवृत्ति का त्याग सर्वव्रत संवर और अंशतः त्याग देशव्रत संवर है। यह अव्रत आस्रव का प्रतिपक्षी है।

3. अप्रमाद संवर—अध्यात्मलीनता अप्रमादः—**अध्यात्म लीनता** को अप्रमाद कहा जाता है। आत्म—प्रदेश स्थित अनुत्साह का क्षय हो जाना अप्रमाद संवर है। दूसरे शब्दों में स्वभाव के प्रति होने वाली सम्पूर्ण जागरूकता का नाम अप्रमाद संवर है। यह प्रमाद आस्रव का प्रतिपक्षी है।

4. अकषाय संवर—क्रोधाद्यभावोऽकषायः—क्रोध आदि के अभाव को अकषाय कहते हैं। आत्म-प्रदेश स्थित कषाय का क्षय हो जाना अकषाय संवर है। क्रोध, मान, माया, लोभ को सर्वथा क्षीण कर देना ही अकषाय संवर है। यह कषाय आस्रव का प्रतिपक्षी है। यह वीतराग अवस्था में ग्यारहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक रहता है।

5. अयोग संवर—अप्रकम्पोऽयोगः—अप्रकम्प अवस्था को अयोग कहते हैं। यह चौदहवें गुणस्थान में होता है। योग का निरोध होना ही अयोग संवर है। अयोग संवर की स्थिति में पहुंचने के तत्काल बाद जीव मुक्त हो जाता है। यह योग आस्रव का प्रतिपक्षी है।

आस्रव के बीस भेदों की तरह ही संवर के भी बीस भेद इस प्रकार हो—

1. मोक्ष के कारणभूत संवर के पांच भेद—

1. सम्यक्त्व, 2. व्रत, 3. अप्रमाद, 4. अकषाय, 5. अयोग

2. व्रत संवर के 5 भेद—

1. प्राणातिपात विरमण 2. मृषावाद विरमण, 3. अदत्तादान विरमण, 4. अब्रह्मचर्य विरमण, 5. परिग्रह विरमण

3. इन्द्रिय संवर के 5 भेद—

1. श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह, 2. चक्षुरिन्द्रिय निग्रह, 3. घ्राणेन्द्रिय निग्रह, 4. रसनेन्द्रिय निग्रह, 5. स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह

4. योग संवर के 3 भेद—

1. मन निग्रह, 2. वचन निग्रह, 3. काय निग्रह।

5. यतना संवर के 2 भेद—

1. भण्ड—उपकरण रखने में अयत्ना न करना, 2. सूची—कुशाग्रमात्र मात्र दोष सेवन न करना।

1.6.7.7 निर्जरा तत्त्व—

मोक्ष की साधना में एक महत्त्वपूर्ण साधक तत्त्व है—निर्जरा। इसका अर्थ है—झड़ जाना, दूर हो जाना, निकल जाना। प्रश्न उठता है कि किन चीजों का निकल जाना निर्जरा है? उत्तर के रूप में कहा जा सकता है कि कर्म पुद्गलों का आत्म प्रदशों से पूरी तरह से निकल जाना ही निर्जरा है। जैन सिद्धान्त दीपिका में निर्जरा को परिभाषित करते हुए कहा गया है—तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्यं निर्जरा, 'उपचारात्तपोऽपि' अर्थात् तपस्या के द्वारा कर्मों का विच्छेद होने पर आत्मा की जो निर्मलता होती है, वह निर्जरा है। इस परिभाषा के अनुसार तपस्या निर्जरा का कारण है। कारण में कार्य का उपचार करने से तपस्या को भी निर्जरा कहा जाता है। यह मोक्ष से पूर्व हो रहा है अतः आत्मा से सम्बद्ध कर्मों का अंश रूप में धीर-धीरे क्षय होना निर्जरा है। निर्जरा भी एक प्रकार से मोक्ष है। पूर्व मोक्ष को निर्जरा और उत्तर मोक्ष को मोक्ष ऐसा भी कह सकते हो।

आचार्य हरिभद्रसूरि निर्जरा की व्याख्या में कहते हैं—

बद्धस्य कर्मणः साटो यस्तु सा निर्जरा मता।

आत्यन्तिको वियोगस्तु, देहादेर्मोक्ष उच्यते।।

निर्जरा का आभ्यन्तर कारण तप है। तत्त्वार्थ में भी कहा गया है—'तपसा निर्जरा' अर्थात् तपस्या ही निर्जरा का कारण है। बिना तप के निर्जरा संभव नहीं है।

निर्जरा के भेद—पूर्व में यह कहा जा चुका है कि तपस्या ही निर्जरा का कारण है और कारण में कार्य का उपचार होने से तपस्या को भी निर्जरा कहते हो अतः तप के बारह भेद ही निर्जरा के बारह भेद हो। मुख्य रूप से इन्हें दो भागों में विभक्त किया जाता है—

1. बाह्य तप, 2. आभ्यन्तर तप।

1. बाह्य तप—जो तप बाह्य रूप से दिखाई देता है, विशेष रूप से स्थूल शरीर को प्रभावित करता है, वह बाह्य तप है। इस तप के द्वारा शरीर पर स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। बाह्य तप के छः भेद इस प्रकार हो—

- | | | |
|---------------|----------------------|-------------------------------|
| 1. अनशन | 2. ऊनोदरी (अवमौदर्य) | 3. भिक्षाचरी (वृत्ति संक्षेप) |
| 4. रसपरित्याग | 5. कायक्लेश | 6. प्रतिसंलीनता। |

इनमें खाद्य संयम को प्रधानता दी गयी है। बाह्य तप के प्रथम चार भेदों में किसी न किसी रूप में खाद्य संयम पर ही बल दिया गया है।

1. अनशन—आहारपरिहारोऽनशनम्—आहार का परिहार अनशन कहलाता है। न अशन, अनशन अर्थात् भोजन का त्याग। उपवास और उसके आगे जितनी तपस्या की जाती है, वह इसके अंतर्गत है। जैनदर्शन में आजीवन आहार त्याग की भी स्वीकृति है, जिसे संथारा कहा जाता है। यह अनशन का ही एक रूप है।

2. ऊनोदरी—"अल्पत्वमूनोदरिका"—आहार पानी वस्त्र एवं कषाय की अल्पता करना। इसमें ऊन का अर्थ है कमी। भोजन व पानी में कमी करने को साधना अनोदरी कही गयी

है। भूख से कम खाना तथा छोटी-छोटी तपस्या करना भी ऊनोदरी है। उपवास से छोटी तपस्या नवकारसी, प्रहर, एकाशन आदि इसी बाह्यतप के अंतर्गत माने जाते हो। वस्त्र पात्र आदि उपकरणों एवं कषाय की अल्पता भी ऊनोदरी तप में ही अन्तर्गर्भित है।

3. भिक्षाचरी—“नानाभिग्रहाद् वृत्यवरोधो—वृत्तिसंक्षेपः”—इसमें विविध प्रकार की प्रतिज्ञाओं से अपनी खाद्यविधि को और अधिक सीमित किया जाता है। आहार ग्रहण करने हेतु निकला हुआ साधु जब कोई प्रतिज्ञा लेकर निकलता है कि इस विधि से मिलने पर ही आहार लूंगा अन्यथा नहीं। यही भिक्षाचरी है। इसे वृत्तिसंक्षेप भी कहते हो।

4. रसपरित्याग—“विकृतेर्वजनं रसपरित्यागः”—भोजन में दूध, दही, घी आदि रसीले खाद्य पदार्थों का परित्याग करना रस परित्याग है।

5. कायक्लेश—“कायोत्सर्गाद्यासनकरणं कायक्लेशः”—कायक्लेश से तात्पर्य शरीर को साधना है। जब अनेक प्रकार के आसनों से शरीर को नियंत्रित करने का कार्य किया जाता है तो इसे ही कायक्लेश कहते हो। इससे एक ही आसन में घंटों तक बैठने का अभ्यास सध जाता है।

6. प्रतिसंलीनता—“इन्द्रियादीनां बाह्यविषयेभ्यः प्रतिसंहरणं प्रतिसंलीनता।” इन्द्रिय और मन का बाह्य विषयों से प्रतिसंहरण करना प्रतिसंलीनता है। यह इन्द्रिय, मन आदि की बाह्य प्रवृत्ति को नियंत्रित कर अन्तर्मुखी बनाता है अतः इन्द्रिय एवं मन के नियंत्रण की दृष्टि से प्रतिसंलीनता नामक बाह्य तप का विशेष महत्व है।

2. आभ्यन्तर तप—बाह्य तप के छः भेदों की चर्चा के बाद अब आवश्यक प्रतीत होता है कि आभ्यन्तरिक तप की चर्चा करें। आभ्यन्तरिक तप से तात्पर्य ऐसे तप से है जो अन्तःशरीर अर्थात् सूक्ष्म शरीर को अधिक तपाता है, जिससे कर्मशरीर तपता है अर्थात् क्षीण होता है। इस तप का स्थूल शरीर पर कोई विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता है। यह अन्दर ही अन्दर कर्म शरीर को प्रभावित करता रहता है। मोक्ष साधना का अन्तरंग कारण होने से इसे आभ्यन्तर तप कहा जाता है। इसके भी छः प्रकार हो—1. प्रायश्चित 2. विनय

3. वैयावृत्य 4. स्वाध्याय 5. ध्यान 6. व्युत्सर्ग।

1. प्रायश्चित—“अतिचार विशुद्धये प्रयत्न प्रायश्चितम्”—अतिचार दोष की विशुद्धि के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसे प्रायश्चित कहते हैं। प्रायश्चित वही स्वीकार कर सकता है, जो सरल हृदय व ऋजु होता है और जिसके मन में अपनी आत्मा को निर्मल बनाने की इच्छा होती है।

प्रायश्चित के दस प्रकार हैं—

- 1. आलोचना**—गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना।
- 2. प्रतिक्रमण**—पापों से निवृत्त होने के लिए ‘मिथ्या में दुष्कृतम्’—मेरे पाप निष्फल हों—ऐसा कहना तथा कायोत्सर्ग आदि करना और आगे पापकर्मों से दूर रहना।
- 3. तदुभय**—आलोचन एवं प्रतिक्रमण दोनों करना।

4. **विवेक**—आए हुए अशुद्ध आहार आदि का उत्सर्ग करना।
5. **व्युत्सर्ग**—चतुर्विंशति स्तव के साथ कायोत्सर्ग करना।
6. **तप**—उपवास आदि करना।
7. **छेद**—प्रायश्चित्त स्वरूप संयमकाल को छेदकर कम कर देना।
8. **मूल**—पुनः व्रतारोपण करना। नयी दीक्षा देना।
9. **अवस्था**—तपस्या पूर्वक व्रतारोपण करना।
10. **पाराश्रित**—अवहेलनापूर्वक व्रतारोपण करना।

2. **विनय**—“अनाशातना बहुमानकरणं विनयः”—विनय के दो अर्थ हैं—कर्मों का अपनयन एवं बड़ों को बहुमान देना ही विनय है। इसे प्रवृत्त्यात्मक विनय कहा जा सकता है। विनय का निवृत्तिपरक अर्थ है—आशातना न करना। आशातना से तात्पर्य है—असद् व्यवहार। आशातना का अभाव और बहुमान का भाव ही विनय है। इससे ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की विशेष शुद्धि होती है तथा मन, वचन एवं काय की पवित्रता सधती है।

विनय का क्षेत्र बहुत व्यापक है। हम बोलचाल की भाषा में विनय का अर्थ गुरुजनों के प्रति सम्मान का भाव करते हैं वह मात्र उपचार विनय है। यहां विनय के सात प्रकारों का उल्लेख करना ज्यादा प्रासंगिक होगा ताकि विनय के व्यापक स्वरूप की झलक प्राप्त की जा सके।

विनय के सात प्रकार ये हैं—1. ज्ञानविनय 2. दर्शनविनय 3. चारित्रविनय 4. मन विनय 5. वचनविनय 6. कायविनय 7. लोकोपचार विनय।

3. **वैयावृत्य**—“परार्थव्यावृत्तिर्वैयावृत्यम्”—बिना किसी स्वार्थ के अंतर्मन से सेवा करना ही वैयावृत्य है। इसमें सहयोग का भाव प्रबल रहता है। इस तप की आराधना करने वाला आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, रोगी नवदीक्षित आदि की आवश्यकताओं को जानकर सेवाभावना और कर्तव्यभावना की प्रेरणा से उनका सहयोगी बनता है। पूर्ण आत्मार्थी भाव का विकास होने से ही वैयावृत्य किया जा सकता है।

4. **स्वाध्याय**—“श्रुतास्याध्ययनं स्वाध्यायः”—स्व अर्थात् आत्मा एवं अध्याय अर्थात् अध्ययन अर्थात् आत्मा से सम्बंधित शास्त्रों का अध्ययन ही स्वाध्याय है। इस प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन आत्मलीनता की स्थिति में ही यह संभव हो सकता है। सही अर्थों में सत् शास्त्रों के अध्ययन का नाम ही स्वाध्याय है। आत्मा से हटकर पदार्थ जगत की ओर धकेलने वाला अध्ययन स्वाध्याय की कोटि में नहीं आता।

5. **ध्यान**—“एकाग्र मनः सन्निवेशनं योग निरोधो वा ध्यानम्”—किसी एक आलम्बन पर मन को स्थापित करने अथवा मन, वचन एवं काय के निरोध को ध्यान कहा जाता है। ध्याता एवं ध्येय के बीच पूर्ण रूप से तादात्म्य घटित होने की स्थिति में ही ध्यान हो पाता है, अन्यथा नहीं। ध्यान चार प्रकार के हो—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्ल ध्यान। अंतिम दो ध्यानों को अच्छा (प्रशस्त) कहा गया है। प्रथम दो अप्रशस्त हैं, इसलिए तप नहीं है।

6. **व्युत्सर्ग**—“शरीरकषायादेः परित्यागो व्युत्सर्गः”—व्युत्सर्ग से तात्पर्य त्याग करने या छोड़ने से है। यह अपने शरीर का हो सकता है, वस्त्र—पात्र आदि उपकरणों का हो सकता है, किसी के सहयोग का हो सकता है और भोजन पानी का हो सकता है। इस स्थिति में किसी भी प्रकार का ममत्व नहीं रहता है। कायोत्सर्ग व्युत्सर्ग तप है।

निर्जरा के उपर्युक्त 12 भेदों के अतिरिक्त एक दूसरे दृष्टिकोण से निर्जरा के दो भेद किये गये हो—1. सकामनिर्जरा, 2. अकामनिर्जरा। मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाने वाली निर्जरा सकाम निर्जरा है। इसके अतिरिक्त जो निर्जरा होती है, वह अकाम निर्जरा है। निर्जरा के बारह भेदों को प्रस्तुत चार्ट से भली भांति समझा जा सकता है।

जिस प्रकार बाह्य तप करते समय आभ्यन्तर तप किया जा सकता है, उसी प्रकार आभ्यन्तर तप—साधना के काल में बाह्य तप भी हो सकता है क्योंकि मूलतः तप एक प्रकार का है। निमित्त भेद से इसके बारह भेद किये गये हो।

1.6.7.8 बन्ध

बन्ध को परिभाषित करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—‘सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते स बन्धः’ अर्थात् कषाय सहित जीव का कर्मपुद्गलों से आबद्ध होना ही बन्ध है। जैन सिद्धान्त दीपिका के अनुसार—कर्मपुद्गलादानं बन्धः— कर्मपुद्गलों के ग्रहण को बन्ध कहा जाता है। बन्ध का शाब्दिक अर्थ है—परस्पर संयुक्त होना। जीव और कर्मपुद्गल के सम्बन्ध को बन्ध कहते हो। जीव और कर्म क्रमशः चेतन और जड़ होने से परस्पर विरोधी स्वभाव वाले पदार्थ हो। फिर भी बन्ध में ये एकीभूत हो जाते हो। इस सम्बन्ध में आत्मा और कर्म की सत्ता पृथक्—पृथक् नहीं होती। वे इस प्रकार एकमेक हो जाते हो, जैसे तिलों में तेल और दूध में घी होता है। बन्ध के कारण ही आत्मा अनन्त संसार में, अनन्तकाल से परिभ्रमण करता रहता है। जन्म और मरण करता है। आत्मा और कर्मों का यह सम्बन्ध प्रवाह रूप से अनादि है। संसारी जीव के सामने ऐसा अवसर कभी नहीं आता, जब वह कर्मों के बन्धन से मुक्त रहता हो।

बन्धन के प्रकार

बन्ध के मुख्यतया चार प्रकार हो, जो इस प्रकार हो—1. प्रकृति बन्ध, 2. स्थिति बन्ध, 3. अनुभाग बन्ध, 4. प्रदेश बन्ध

1. **प्रकृति बन्ध**—सामान्योपात्तकर्मणां स्वभावः प्रकृतिः। सामान्य रूप से ग्रहण किये हुए कर्मपुद्गलों का जो स्वभाव होता है, उसे प्रकृति बन्ध कहते हो। आत्मा से सम्बंधित होने वाले कर्मों में किस कर्म का क्या स्वभाव है, वह आत्मा के किस गुण को प्रभावित करेगा, इस प्रकार के वर्गीकरण का नाम ही प्रकृति बन्ध है। जैसे ज्ञान को रोकना ज्ञानावरणीय कर्म का स्वभाव है और दर्शन को रोकना दर्शनावरणीय कर्म का स्वभाव है। इस प्रकार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र, आयुष्य एवं अन्तराय ये आठ मूल प्रकृतियां हो। इनके उपभेद उत्तर प्रकृति कहलाती हैं। उत्तर प्रकृतियां संख्या में सत्तानवें हैं।

2. **स्थिति बन्ध—‘कालावधारणं स्थितिः’** अर्थात् कौन कर्म कितने समय तक आत्मा से सम्बद्ध रहेगा, किस अवधि के बाद वह अपना फल देगा, ऐसी व्यवस्था का नाम स्थिति बन्ध है। शास्त्रों में कर्म प्रवृत्तियों की उत्कृष्ट स्थिति एवं जघन्य स्थिति की विस्तार से चर्चा है।

3. **अनुभाग बन्ध—‘विपाकोऽनुभागः’** अर्थात् कर्मों के विपाक (फल) को अनुभाग बन्ध कहते हैं। रस, अनुभाग, अनुभाव और फल ये सब पर्यायार्थी शब्द हैं। विपाक दो प्रकार का होता है—1. अगर तीव्र परिणामों से कर्म बंधे होंगे तो उसका विपाक तीव्र होगा, 2. अगर मन्द परिणामों से कर्म बंधे होंगे तो उसका विपाक मन्द होगा। यथार्थ कर्म जड़ हो तो भी पथ्य एवं अपथ्य आहार की तरह उनसे जीवों को क्रियाओं के अनुसार फल की प्राप्ति हो जाती है। कर्म फल के लिए किसी ईश्वर आदि की आवश्यकता नहीं है।

4. **प्रदेश बन्ध—‘दलसंचयः प्रदेशः’** अर्थात् कर्मों के दलसंचय को प्रदेशबन्ध कहते हैं। दूसरे शब्दों में कर्मवर्गणा का आत्मप्रदेशों के साथ सम्बन्ध होना ही प्रदेश बन्ध है। इन चारों में मूल है प्रदेशबन्ध। शेष तीनों उसी के सहचारी हैं।

बन्ध के हेतु

बन्ध है तो इसका कोई न कोई कारण होना चाहिए। दर्शनशास्त्र का नियम है कि कोई घटना अकारण नहीं घटती है। हर घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। बन्ध है तो इसका भी कोई कारण होना चाहिए। पहले कर्मवर्गणा के पुद्गलों का आत्मप्रदेशों में आगमन होता है और उसके पश्चात् बन्ध होता है। कर्मपुद्गलों का आगमन आस्रव बिना नहीं हो सकता अतः बन्ध का हेतु आस्रव को माना जा सकता है। मिथ्यात्व आदि हेतुओं के अभाव में कर्मपुद्गलों का प्रवेश नहीं होता है और उनके अभाव में बन्ध भी नहीं हो सकता इसलिए मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग बन्ध के कारण हैं। यह भी उल्लेख मिलता है कि प्रकृति बन्ध और प्रदेशबन्ध योग के निमित्त से होते हैं और स्थिति बन्ध तथा अनुभाग बन्ध कषाय के कारण होते हैं।

1.6.7.9 मोक्ष

कृत्स्नकर्मक्षयादात्मन स्वरूपावस्थानं मोक्षः—सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने से आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति, जैसे आत्मा और कर्मपुद्गलों का संयोग बन्ध है, उसी प्रकार उनका वियोग होना ही मोक्ष है। यह आत्मा की परम शुद्ध अवस्था है। संसार के समस्त बन्धनों का नष्ट हो जाना मोक्ष है। दूसरे शब्दों में समस्त कर्मपुद्गलों के क्षय को मोक्ष कहा जाता है। कर्मपुद्गलों का आत्मा की ओर प्रवाह निरन्तर रहता है। इस प्रवाह को सबसे पहले रोकना होता है। जब तक यह प्रवाह नहीं रुक सकता तब तक आत्मा के मुक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैसे वर्षा आने पर पानी कमरे में आ रहा हो और आप उसे निकालने के लिए प्रयास कर रहे हों तो तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि बाहर से आने वाला पानी का प्रवाह रुक न जाए या रोक न दिया जाये। कर्मपुद्गलों के प्रवाह को रोकना ही संवर है और इसके बाद अन्दर प्रविष्ट कर्मपुद्गलों को निकालना ही निर्जरा है। इसीलिए संवर और निर्जरा मोक्ष के लिए साधक माने गये हैं।

विभिन्न भारतीय दर्शनों में मोक्ष—भारतीय दर्शन परम्परा का एक परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। लगभग सभी भारतीय दार्शनिकों ने मोक्ष को स्वीकार किया है, सिवाय चार्वाक के। चार्वाक मृत्यु को ही मोक्ष मानता है। उसके अनुसार ‘मरणमेवापवर्गः’ अर्थात् मौत ही मोक्ष है। इसके अतिरिक्त मोक्ष कुछ भी नहीं है। बौद्ध इसे निर्वाण कहते हो। न्याय—वैशेषिक इसे अपवर्ग और मीमांसक निःश्रेयस कहते हो। सांख्य—योग वेदान्ती और जैन इसे मोक्ष ही कहते हो। प्रायः सभी दार्शनिक नित्य आत्मा को मानते हुए मोक्ष को स्वीकार करते हो किंतु बौद्ध दार्शनिक नित्य आत्मा को न मानते हुए भी ‘निर्वाण’ को मानते हो। यह उनकी विशेषता है। वे निर्वाण को शान्त अवस्था मानते हो। यहां आत्मा की ही मुक्ति नहीं अपितु आत्मा से भी मुक्ति मानी गयी है जबकि जैन दर्शन में आत्मा की मुक्ति मानी गयी है। आत्मा की मुक्ति से तात्पर्य आत्मा के कर्ममलों के उच्छेद से है। सांख्य के मोक्ष में और न्याय—वैशेषिक के मोक्ष में जहां दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति मानी गयी है और मोक्ष का कोई विधेयात्मक स्वरूप स्वीकार नहीं किया गया है, वहां जैनदर्शन में मोक्ष का स्वरूप निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों है। यहां मोक्ष में कर्ममलों की निवृत्ति होती है तो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द एवं अनन्तवीर्य की उपलब्धि होती है। जैन के मोक्ष में अनन्त चतुष्टय साकार होता है। वेदान्त के मोक्ष में भी अनन्त आनन्द की उपलब्धि होती है। किंतु जैन दर्शन में यह उपलब्धि कर्ममलों के क्षय से है, वहां वेदान्त में अज्ञान के क्षय से स्वीकार किया गया है।

जैनदर्शन में मोक्ष का स्वरूप

मुक्त अवस्था में आत्मा किसी दूसरी शक्ति में विलय नहीं होता है। आत्मा किसी दूसरी सत्ता का अवयव या विभिन्न अवयवों का संघात नहीं होता है अपितु उसकी स्वतंत्र सत्ता है। मुक्त अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है। उससे सारे विजातीय तत्त्व सदा के लिए दूर हो जाते हो। मुक्तावस्था में जीव का सद्भाव बना रहता है। यहां आत्मा की अशुद्धियों की निवृत्ति होती है न कि आत्मा की। जैन दर्शन यह भी मानता है कि जीव एक बार मुक्त हो जाने पर फिर संसार में नहीं आता है। मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन कर लोकान्त में स्थित हो जाता है। लोकान्त में जाकर सभी मुक्त जीव एक स्थान विशेष पर विराजमान रहते हो, जिसे आगमिक शब्दावली में सिद्धशिला कहते हो। मोक्ष और मोक्ष के स्वरूप पर प्रकाश डालने के पश्चात अब प्रश्न यह उठता है कि मोक्ष के साधन क्या हो?

मोक्षमार्ग

चूंकि सभी भारतीय दार्शनिकों ने मोक्ष और मोक्ष के स्वरूप को स्वीकृति दी है तो सबने मोक्षमार्ग पर भी प्रकाश डाला है। बौद्धों ने निर्वाण के साधन के रूप में अष्टांग मार्ग (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् कर्म, सम्यक् वाक्, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि) को स्वीकार किया है तो सांख्य ने विवेक ख्याति को, न्याय वैशेषिकों ने विवेकज्ञान को, शंकराचार्य ने आत्मज्ञान को और रामानुज ने भक्ति को तथा गीता ने ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों को मोक्षमार्ग माना है। जैनदर्शन में मोक्षमार्ग को बतलाते हुए तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम सूत्र में ही कहा गया है—‘सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र इन तीनों का समन्वित मार्ग

मोक्ष मार्ग है। उत्तराध्ययन में सम्यक् तप को भी इसमें जोड़ा गया है। तदनुसार श्रद्धा, ज्ञान चारित्र एवं तप—चारों को मोक्ष का साधन माना है। ज्ञान से जानना, दर्शन से श्रद्धा करना, चरित्र से निरोध करना और तप से विशुद्धि करना। यहां सामान्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप मोक्ष—प्राप्ति के साधन नहीं हो अपितु सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप मोक्ष के उपाय हो। इनमें किसी एक के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। आचार्यों का मानना है कि केवल मोक्ष के विषय में श्रद्धा रखने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि श्रद्धा मात्र से मोक्ष की प्राप्ति मानी जाये तब तो भूख लगने पर उसके प्रति श्रद्धा मात्र से भोजन पक जाना चाहिए। इसी प्रकार केवल सम्यक् ज्ञान से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि ऐसा हो तो पानी के ज्ञान से ही प्यास बुझ जानी चाहिए थी, किंतु ऐसा नहीं होता है अर्थात् पानी पीने से ही प्यास बुझती है, उसी प्रकार श्रद्धा, ज्ञान के साथ आचरण अर्थात् चारित्र और तप भी मोक्ष का कारण है। जैसे रोगी के रोग की निवृत्ति के लिए आवश्यक है कि वह डाक्टर द्वारा दी गयी दवा में श्रद्धा रखे और दवा के उपयोग को समझे और उसका उपयोग करे तभी उसका रोग दूर होता है। उसी प्रकार मोक्ष के लिए इन चार साधनों का समन्वय आवश्यक है। कुन्दकुन्दाचार्य एवं अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों ने तप को भी मोक्ष का कारण माना है जबकि उमास्वाती ने तप को अलग नहीं किया है। वे तप को चारित्र के अंतर्गत ही समाहित कर लेते हो।

इन चारों में चारित्र का बहुत बड़ा महत्त्व है, जिसका अर्थ संयम है। सब प्रकार की सपाप प्रवृत्तियों का परित्याग करने वाला व्यक्ति ही संयमी या चारित्रवान होता है। चारित्र का पालन करने वाला मुनि कहलाता है। चारित्रधर्म की मूलभूत आचार संहिता है 'महाव्रत'। शरीर के साथ प्रवृत्ति आवश्यक है अतः प्रवृत्ति पापकारी न हो एतदर्थ समिति और गुप्ति का विधान है। समिति का अर्थ है संयममय प्रवृत्ति। समिति के पांच प्रकार ये हो—

1. ईर्या समिति—युगमात्र भूमिं चक्षुषा प्रेक्ष्य गमनं ईर्या। शरीर प्रमाण भूमि को देखकर संयमपूर्वक चलना।
2. भाषा समिति—अनवद्यभाषणं भाषा। संयमपूर्वक बोलना, (निष्पाप भाषा)।
3. एषणा समिति—निर्दोषान्नपानादेरन्वेषणम् एषणा। संयमी के द्वारा निर्दोष भोजन पानी आदि की संयमपूर्वक एषणा करना।
4. आदान निक्षेप समिति—उपध्यादेः सयत्नं व्यापरणम् आदान निक्षेपः। धर्मोपकरणों को संयमपूर्वक लेना व रखना।
5. उत्सर्ग समिति—उच्चारदेः सविधि परिष्ठापनम् उत्सर्गः। मलमूत्र आदि का विधिपूर्वक विसर्जन करना।

इन पांचों समितियों से पांच महाव्रतों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य) की अनुपालना सहज हो जाती है इसलिए महाव्रत के साथ समिति का योग किया गया है। जहां समिति है, वहां गुप्ति आवश्यक है। गुप्ति के साथ समीति हो भी सकती है और नहीं भी हो

सकती है। किंतु समिति, गुप्ति के बिना नहीं होती इसलिए निम्न तीन गुप्तियों का भी विधान जैनदर्शन में है।

मनोवाक्कायसंवरों गुप्तिः। मन, वाणी और काया के संवर को गुप्ति कहते हैं।

1. मनोगुप्ति—मन पर पूरी तरह से निग्रह रखना, अथवा मन की असंयममय प्रवृत्ति का निग्रह।
2. वाक्गुप्ति—वाणी का सर्वथा निग्रह करना। अथवा वाणी की असंयत प्रवृत्ति का निग्रह।
3. कायगुप्ति—शरीर की स्थूल, सूक्ष्म सभी प्रवृत्तियों व परिस्पन्दनों का निग्रह करना, अथवा सपाप प्रवृत्ति का निग्रह।

जैन धर्म में पांच समितियों एवं तीन गुप्तियों के अतिरिक्त दस धर्मों का भी विधान है, जो इस प्रकार हो—

1. क्षमा, 2. निर्लोभता, 3. आर्जव (सरलता), 4. मार्दव (मृदुता),
5. लाघव, 6. सत्य, 7. संयम, 8. तप, 9. त्याग, 10. ब्रह्मचर्य।

इन दस धर्मों की साधना करने वाला श्रमण ऊर्ध्वारोहण करता हुआ आत्मविकास की सब भूमिकाओं को पार कर मुक्त हो जाता है अतः रत्नचतुष्टयी, महाव्रत, समितियां, गुप्तियां, दस धर्म आदि मोक्ष के साधन माने गये हो। षड्दर्शन मोक्ष मार्ग के संदर्भ में कहा गया है—

तथाभव्यत्वपाकेन यस्यैतत्त्रितयं भवेत्।

सम्यग्ज्ञानक्रियायोगाज्जायते मोक्ष भाजनम्।।

इस प्रकार नवतत्त्वों के सांगोपांग विवेचन के पश्चात यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि साधना के विकास के लिए नवतत्त्वों के गूढ़ रहस्य को समझना आवश्यक है। तत्त्व व्यवस्था का आकलन होने पर ही आत्मविकास के बाधक तत्त्वों को दूर किया जा सकता है? यदि आत्मविकास के बाधक तत्त्वों का बोध या ज्ञान नहीं होगा तो उससे निवृत्ति और साधक तत्त्वों की ओर प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? मोक्ष की साधना में अजीव, पुण्य, पाप, बन्ध, जीव और आस्रव ये छः बाधक तत्त्व हो। परमार्थ की साधना करने वालों के लिए अपेक्षित है कि वे इनसे मुक्त होकर मोक्ष के लक्ष्य को प्राप्त करें। संवर और निर्जरा मोक्ष साधना के सहायक तत्त्व हैं अतः परमार्थ के साधक के लिए उपर्युक्त नवतत्त्वों में से तीन साधक हो और छः बाधक। मोक्ष की साधना करने वाले हर व्यक्ति के लिए इस सच्चाई को अंगीकार कर अग्रसर होना होगा।

1.6.8. अस्तिकाय

आगमों में स्थान—स्थान पर विश्व व्यवस्था के संदर्भ में अस्तिकाय शब्द का प्रयोग हुआ है। अस्तिकाय जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण एवं पारिभाषिक शब्द है। अस्तिकाय शब्द अस्ति और काय इन दो शब्दों से बना है। यहां अस्ति का अर्थ प्रदेश और काय का अर्थ समूह किया गया है अतः अस्तिकाय का अर्थ प्रदेशसमूह या अवयव समुदाय है। प्रत्येक द्रव्य का

सबसे छोटा अर्थात् परमाणु जितना भाग प्रदेश कहलाता है। उनका काय अर्थात् समूह ही अस्तिकाय है। धर्म-अधर्म, आकाश और जीव के प्रदेशों का विघटन नहीं होता इसलिए वे अविभागी द्रव्य हो। ये अवयवी इस दृष्टि से हैं कि इनके परमाणु तुल्य खण्डों की कल्पना की जाये तो वे असंख्य होते हो। पुद्गल विभागी द्रव्य है। उसका सबसे सूक्ष्म, शुद्ध एवं अविभाज्य रूप परमाणु है। परमाणु मिलते हो और अलग होते हो। इसका मतलब यह है कि परमाणु के स्कन्ध बनते हो और वे टूटते भी हो। कोई स्कन्ध शाश्वत नहीं है क्योंकि जो उत्पन्न होता है वह नष्ट भी होता है। जिस स्कन्ध में जितने परमाणु होते हो, वह उतना ही प्रदेशी होता है। द्विप्रदेशी स्कन्ध में दो प्रदेश, त्रिप्रदेशी स्कन्ध में तीन प्रदेश और अनन्त प्रदेशी स्कन्ध में अनन्त प्रदेश होते हैं।

1.6.8.1 अस्तिकाय का विशिष्ट अर्थ

‘अस्तिकायः प्रदेशप्रचयः’ यह जैनदर्शन का मान्य सिद्धान्त है किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य सिद्धसेनगणी ने अपनी तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका में अस्तिकाय शब्द की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार काय शब्द उत्पाद एवं व्यय की ओर संकेत करता है तथा अस्ति पद से ध्रुवता का संकेत होता है। अस्तिकाय शब्द वस्तु की त्रयात्मकता को प्रकट करता है। अस्तिकाय शब्द से ज्ञात होता है कि धर्म आदि पांचों द्रव्य नित्य तथा अस्तित्ववान हो तथा वे परिवर्तन के विषय भी बनते हो। जैनदर्शन का अस्तिकाय सांख्य के पुरुष एवं वेदान्त के ब्रह्म की तरह कूटस्थ नित्य नहीं हो और न ही बौद्धों के पर्याय की तरह नितान्त क्षणिक ही हो। अस्तिकाय का त्रैकालिक अस्तित्व है। वे नित्य तथा त्रैकालिक भाव परिणत हो। उन्हीं के द्वारा ही तीनों लोक निष्पन्न हुए हो—

“जेहिं अत्थिसहाओ गुणेहिं सह पज्जएहिं विवहेहिं ।

ते होतिं अत्थिकाया णिप्पणं जेहिं तइलुक्कं ।।”

अस्तिकाय सार स्वरूप हो तथा लोक के कारणभूत हो। उनका अस्तित्व नियत है। भगवती में कहा गया है—‘पंचत्थिकायएसणं एवत्ति ए लोएत्ति पवुच्चई’ अर्थात् पंचास्तिकाय को ही लोक कहकर पुकारा गया है। आगमकालीन समय में पंचास्तिकाय की ही परम्परा थी। उत्तरकाल में ‘षड्द्रव्य’ की परम्परा प्रभावी हुई और ‘षड्द्रव्यात्मको लोकः’ के आधार पर षड्द्रव्य को लोक कहा गया। धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल प्रदेश समूह के कारण अस्तिकाय कहलाए और काल प्रदेश समूह न होने के कारण अनस्तिकाय के रूप में प्रसिद्ध हुआ क्योंकि काल में प्रदेशों का समूह नहीं है। बीते हुए काल का कोई अस्तित्व नहीं होता और आने वाले का भी अस्तित्व नहीं है, केवल वर्तमान का अस्तित्व है अतः प्रदेश समूह नहीं है इसलिए इसे अनस्तिकाय माना गया है या औपचारिक द्रव्य माना गया है।

सारांश

इस प्रकार नव तत्त्वों की सम्यक् विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि जैनदर्शन में तत्त्व की अवधारणा का अपना महत्त्व है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए तत्त्व ज्ञान अपेक्षित है। जब तक पाठक या साधक जीव एवं अजीव का सम्यक् ज्ञान नहीं करेगा, दो विजातीय तत्त्वों में

भेद नहीं कर सकेगा तब तक उसके लिए मोक्ष का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है इसलिए तत्त्व ज्ञान की उपादेयता सबके लिए है।

बोध प्रश्न

1. स्कन्ध किसे कहते हो?
2. योग आस्रव से क्या तात्पर्य है?
3. प्रतिसंलीनता से क्या तात्पर्य है?
4. ध्यान के कितने भेद हो?
5. एषणा समिति से क्या तात्पर्य है?

1.7 द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप, भेद एवं सम्बन्ध

प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने 'द्रव्य' को अपने चिंतन के केन्द्र में रखा है। द्रव्य चिंतन तत्त्वमीमांसा का प्रमुख विषय है। दर्शन के अंगों में प्रमुख अंग है तत्त्वमीमांसा और इस तत्त्वमीमांसा में प्रमुख है द्रव्य का चिंतन। जैनदर्शन में तत्त्वमीमांसा के अंतर्गत द्रव्य को केन्द्र में रखा गया है अतः यहां हमारा उद्देश्य रहेगा कि हम जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य क्या है, इसका स्वरूप क्या है? द्रव्य गुण और पर्याय का आपस में क्या सम्बन्ध है? क्या द्रव्य निर्गुण और पर्यायविहीन हो सकता है? द्रव्य के कितने प्रकार हो? द्रव्य का लोक से क्या सम्बन्ध है? इन सब विषयों पर प्रकाश डालें।

1.7.1 द्रव्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

जैनदर्शन में द्रव्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हुए कहा गया है कि—'अद्वयत् द्रवति द्रोष्यति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्' अर्थात् द्रव्य वह है जो भिन्न—भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा। यह व्युत्पत्ति पर्याय को आधार मानकर द्रव्य को व्याख्यायित करती है। पर्याय को आधार मानकर अनेक आचार्यों ने द्रव्य की व्युत्पत्ति कुछ इसी प्रकार की है। गुण को आधार मानकर भी जो व्युत्पत्ति की गयी है, उनका भी अर्थ है जो गुणों को प्राप्त हुआ या हो रहा है तथा जो गुणों को प्राप्त होगा वह द्रव्य है। इसका फलित अर्थ यह है कि अवस्थाओं का उत्पाद और नाश होते रहने पर भी जो नित्य (ध्रुव) रहता है, वह द्रव्य है।

1.7.2 भारतीय दर्शन में द्रव्य

सभी वैदिक और अवैदिक दर्शनों में द्रव्य विचार को केन्द्र में रखकर चिंतन हुआ है। कोई द्रव्य को नित्य मानता है तो कोई द्रव्य को अनित्य मानता है। बौद्ध दर्शन चूंकि अनित्यवादी है तो वह किसी नित्य द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। उसके मत से सब कुछ उत्पाद और विनाशशील है। कुछ भी नित्य, शाश्वत नहीं है। यहां नाम और रूप इन दो तत्त्वों से विश्व की व्याख्या हुई है। द्वादशनिदान ही सम्पूर्ण भवचक्र का आधार है। सब कुछ कारणकार्य पर निर्भर है। अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से

उपादान, उपादान से भव, भव से जाति और जाति से जरा मरण अर्थात् सब कुछ उत्पन्न और नष्ट होता है, कुछ भी स्थायी नहीं है। ज्ञातव्य है कि बौद्धदर्शन तत्त्वमीमांसा की अपेक्षा आचारमीमांसा पर अधिक बल देता है। यहां लोक को अनित्य, दुःखात्मक और अनाम माना गया है। द्वादश निदान के द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद के गतिशील रहने पर चैतन्य का भव बना रहता है और जरामरण होता रहता है। द्वादश कारणों में से एक के भी निरुद्ध होने से समस्त चक्र निरुद्ध हो जाता है। भवचक्र निरुद्ध करने के लिए बौद्धों ने आर्याष्टांगिक मार्ग (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् कर्म, सम्यक् वाक्, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि) का प्रतिपादन किया है।

इसके अतिरिक्त सांख्य, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त द्रव्य को नित्य एवं शाश्वत मानते हैं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार—‘द्रव्य वह है जो गुण तथा कर्म का आश्रय हो और अपने कार्य का समवायिकारण हो। द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता है। वह गुण और कर्म का आश्रयभूत तत्त्व है। मीमांसा दर्शन भी गुण और कर्म से युक्त द्रव्य को मानता है। कुमारिल के अनुसार जिसमें क्रिया और गुण हो वह द्रव्य है। सांख्य दो नित्य द्रव्य मानता है—प्रकृति और पुरुष। प्रकृति जड़तत्त्व है। यह सारा द्रव्य संसार इस प्रकृति का ही परिणाम है। पुरुष शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, जो देश-कालादि बन्धनों से मुक्त है। वह निर्गुण और निर्विकल्प तत्त्व है। वह मात्र द्रष्टा है। यह सारा संसार प्रकृति-पुरुष के संयोग का परिणाम है और उनके वियोग का परिणाम मोक्ष है। वेदान्त दर्शन कूटस्थ नित्यत्ववादी है। वहां ‘त्रिकालाबाधितसत्’ को स्वीकार किया गया है। वह सत् या द्रव्य या तत्त्व है जो तीनों कालों में अबाधित है। ‘एकमेवपरमार्थ सत् अद्वयं ब्रह्म’ अर्थात् एकमात्र परमार्थ सत् अकेला द्रव्य ब्रह्म ही है। ‘ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः’ अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र सत् है, जगत् मिथ्या है और जीव तथा ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। जैनदर्शन में द्रव्य को न तो कोरा नित्य और न कोरा अनित्य अपितु नित्यानित्य माना गया है जिसकी विस्तार में व्याख्या आगे प्रस्तुत है।

1.7.3. जैनदर्शन में द्रव्य का स्वरूप

जैनदर्शन बौद्धों की तरह न द्रव्य को अनित्य मानता है और न ही वेदान्त की तरह नित्य मानता है। यह किसी भी सम्बन्ध में एकान्तवादी विचार नहीं रखता है अतः द्रव्य के संदर्भ में भी यहां किसी प्रकार का एकान्तवादी विचार मान्य नहीं है। जैन साहित्य में द्रव्य की परिभाषा कई दृष्टिकोणों के आधार पर की गयी है। यहां द्रव्य वह है, जो गुण समुदाय रूप हो, गुण पर्याय से युक्त हो, सत् स्वरूप हो, सप्तभंगी से युक्त हो, त्रैकालिक पर्यायों का पिण्ड हो, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त हो तथा नित्यानित्य हो।

1.7.3.1 गुणसमुदायरूप द्रव्य

विश्व व्यवस्था के संदर्भ में द्रव्य की प्रथम परिभाषा उत्तराध्ययन में मिलती है। यहां गुणों के आश्रय को द्रव्य मानते हुए कहा गया है कि ‘गुणाणमासओ दव्वं’ अर्थात् गुण का आश्रय द्रव्य है। इस परिभाषा में केवल गुणों के पिण्ड को द्रव्य कहा गया है। कुछ जैनाचार्यों ने इसी परिभाषा का अनुसरण करते हुए गुण-समुदाय को द्रव्य माना है।

1.7.3.2 गुणपर्याय से युक्त द्रव्य

उत्तराध्ययन की परिभाषा में द्रव्य को केवल गुणों का आश्रय माना गया है किंतु उत्तरवर्ती साहित्य में द्रव्य की जो परिभाषा है उसमें पर्याय को जोड़ा गया है। उमास्वाती ने द्रव्य की परिभाषा में गुण के साथ पर्याय को जोड़ते हुए तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है—‘गुणपर्यायवद् द्रव्यम्’ अर्थात् गुणपर्याय से जो युक्त है, वह द्रव्य है। उमास्वाती के अनुसार गुण पर्याय से रहित द्रव्य की कोई सत्ता नहीं है। द्रव्यानुयोगतर्कणा में भी द्रव्य को गुणपर्याय के आधार के रूप में स्वीकार करते हुए कहा गया है—

“गुणपर्याययोः स्थानमेकरूपं सदापि यत्।

स्वजात्या द्रव्यमाख्यातं मध्ये भेदो न तस्य वै।”

अर्थात् गुण और पर्याय सदैव द्रव्य में रहते हो। आचार्यश्री तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका में द्रव्य की परिभाषा देते हुए लिखा है—‘गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्’ अर्थात् गुण एवं पर्याय का आश्रय ही द्रव्य है। अब यह निश्चित होता है कि द्रव्य तभी होगा जब गुण एवं पर्याय हो। एक प्रश्न यह उठता है कि आखिर गुण और पर्याय क्या हैं? सहभावीधर्मो गुणः—और पूर्वोत्तराकारपरित्यागादानं पर्यायः पूर्व आकार का त्याग उत्तर आकार की उपलब्धि को पर्याय कहते हैं। द्रव्य का सहभावी धर्म गुण कहलाता है और क्रमभावी धर्म पर्याय कहलाता है अर्थात् जो सदैव द्रव्य के साथ रहता है वह गुण है और जो परिवर्तित होता रहता है, वह पर्याय है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गुण कभी परिवर्तित नहीं होता है और पर्याय सदैव परिवर्तित होता रहता है। अतः द्रव्य गुण की दृष्टि से नित्य है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य है।

1.7.3.3 द्रव्य का लक्षण सत् है

तत्त्वार्थसूत्र जैनदर्शन का प्रथम संस्कृत ग्रंथ है, जिसमें द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि ‘सत्द्रव्यलक्षणम्’। जैनदर्शन में द्रव्य के लिए ‘सत्’ का प्रयोग हुआ है। ‘सत्’ शब्द का ऐतिहासिक दृष्टि से विमर्श करने पर स्पष्ट होता है कि भगवती में सत् के लिए तत्त्व शब्द का प्रयोग हुआ है। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—भंते! तत्त्व क्या है? भगवान् ने कहा—गौतम! तत्त्व वह है जो उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और ध्रुव रहता है। भगवती के इस संवाद में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का उल्लेख हमें मिलता है किंतु आगमों में ‘द्रव्य’ की ‘सत्’ संज्ञा नहीं थी। जबकि अन्य दर्शनों में ‘सत्’ के उल्लेख की प्रधानता रही तो जैनदर्शन में भी इस पर चिंतन हुआ। बौद्धों ने ‘अर्थक्रियाकारित्व लक्षणं सत्’ स्वीकार कर कार्य निष्पादन की क्षमता वाले तत्त्व को सत् कहा। उनके अनुसार जिसमें कुछ उत्पन्न करने की क्षमता है वही सत् है। जो सत् है वह क्षणिक है और इस प्रकार सारे पदार्थ क्षणिक हो। कुछ भी नित्य स्थायी नहीं है। सत् की एक परिभाषा के आधार पर बौद्धों ने सब कुछ क्षणिक माना। इसके ठीक विपरीत वेदान्ती सत् की परिभाषा करते हुए कहते हो—‘सत् वह है, जो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में हो’। उनके अनुसार ऐसा एकमात्र तत्त्व ब्रह्म ही है, अतः वही सत् है। जैनदर्शन ने सत् की परिभाषा के संदर्भ में इन दोनों विरोधी विचारों का समन्वय किया है। आचार्य उमास्वाती ने ‘सत्’ की परिभाषा करते हुए

कहा—‘उत्पाद—व्यय—ध्रौव्ययुक्तं सत्’ अर्थात् सत् वह है जो उत्पन्न होता है, नष्ट होता है तथा नित्य भी है। यहां बौद्धों का उत्पाद—व्यय भी है तो शंकराचार्य का ध्रौव्यत्व भी है।

1.7.3.4 सप्तभंगी से युक्त द्रव्य है

विभिन्न आचार्यों ने सप्तभंगी के आधार पर भी द्रव्य के स्वरूप को स्पष्ट किया है। जैनदर्शन के सात भंग इस प्रकार हो—

1. स्यात् सत् है, (सत्) सदभाव यानि अस्तित्व। द्रव्य स्वपर्याय की अपेक्षा सत् है।
2. स्यात् असत् है, (असत्) असदभाव यानि नास्तित्व। द्रव्य, पर पर्याय की अपेक्षा असत् है।
3. स्यात् सदसत् दोनों है, स्वपर्याय की अपेक्षा सत् है पर पर्याय की अपेक्षा से सत् नहीं है।
4. स्यात् अवक्तव्य है, स्व—पर (युगपत्) पर्याय की अपेक्षा अवक्तव्य है।
5. स्यात् सत् और अवक्तव्य है, स्वपर्याय की अपेक्षा से सत् तथा युगपत् की अपेक्षा से अवक्तव्य है।
6. स्यात् असत् और अवक्तव्य है, पर पर्याय की अपेक्षा से असत् तथा युगपत् वक्तव्य की अपेक्षा से अवक्तव्य है।
7. स्यात् सदसत् और अवक्तव्य है। स्वपर्याय की अपेक्षा से सत् है पर पर्याय की अपेक्षा से असत् है तथा युगपत् की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

जैसे— 1. घट है (स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से)
 2. घट नहीं है (पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से)
 3. घट है, घट नहीं है। (स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से है, पर द्रव्यादि की अपेक्षा से नहीं है।)

4. कथंचित अवक्तव्य है। (युगपत् द्रव्यादि की अपेक्षा से अवक्तव्य है।)
5. कथंचित घट अवक्तव्य है।
6. कथंचित घट अवक्तव्य नहीं है।
7. कथंचित अवक्तव्य है, नहीं है, दोनों है।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य वह है जिसमें ये सात भंग पाये जाते हो। हर द्रव्य सत् भी है तो असत् भी है। गुण के कारण सत् है और पर्याय के कारण असत् है। दोनों का क्रम से वर्णन करें तो ‘सदसत्’ है और युगपद वर्णन करें तो अवक्तव्य है। इसी रूप में शेष भंगों को भी समझना चाहिए। सप्तभंगी के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा है—

‘सिय अत्थि, णत्थि उहयं अव्वतव्वं पुणो च तत्तिदयं।

दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण सम्भवदि।।”

अर्थात् सत्ता (द्रव्य) है भी, नहीं भी है, दोनों है, अवक्तव्य है। इसी तरह द्रव्य के सात भंग समझने चाहिए। इस प्रकार सात भंगों के आधार पर भी द्रव्य को परिभाषित किया जा सकता है।

1.7.3.5 परिणामी नित्यत्ववाद

जैनदर्शन में द्रव्य को न तो नित्य माना गया है और न ही अनित्य माना गया है अपितु इसे नित्यानित्य या परिणामीनित्य कहा गया है। 'परिणामी-नित्यवाद' में परिणमन एवं नित्यत्व का समन्वय हुआ है। इसका तात्पर्य है कि सत्ता नित्य भी है और परिवर्तित भी होती है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्रव्य उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी। इस परिवर्तन के होते हुए भी इसके अस्तित्व की हानि कभी नहीं होती है। दर्शनशास्त्र में 'परिणाम' और विवर्त दो शब्द मिलते हो। परिणाम से तात्पर्य है किसी वस्तु का किसी दूसरे आकार में बदल जाना और विवर्त का अर्थ है परिवर्तन का वास्तविक रूप में न होना किंतु उसका आभास होना। दूध का दही में परिवर्तन परिणाम है और रस्सी का सर्प के रूप में परिवर्तन विवर्त है। रस्सी, रस्सी ही रहती है किंतु सर्प के रूप में आभास होता है जबकि परिणाम में वास्तविक परिवर्तन होता है। 'परिणामी नित्यत्ववाद' में परिवर्तन भी सच्चाई है और नित्यता भी सच्चाई है जिसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे स्वर्णकार सोने के कुण्डल को तोड़कर कड़ा बनाता है, उस समय कुण्डल का पर्याय या आकार नष्ट होता है और कड़े के पर्याय या आकार का उद्भव होता है, परन्तु दोनों अवस्थाओं में सोना ज्यों का त्यों बना रहता है। उपर्युक्त दूध-दही के उदाहरण में दूध से दही बनता है तथा दही को मथने से मक्खन बनता है। इसमें दूध का पर्याय नष्ट हुआ तो दही का पर्याय उत्पन्न हुआ और दही का पर्याय नष्ट हुआ तो मक्खन का पर्याय उत्पन्न हुआ। परन्तु दूध, दही, मक्खन इन तीनों अवस्थाओं में गोरसत्व नित्य है। किसी भी आकार या पर्याय में उसकी हानि नहीं हुई। इन दृष्टान्तों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि द्रव्य परिणामीनित्य या नित्यानित्य है।

उपर्युक्त द्रव्य सम्बन्धी विविध परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि द्रव्य का स्वरूप नित्यानित्य है। अब यहां एक प्रश्न यह आता है कि द्रव्य दो विरोधी गुणों का समूह कैसे हो सकता है? आचार्य रामानुज ने भी यही प्रश्न उठाया था कि एक द्रव्य दो विरोधी गुणों से युक्त नहीं हो सकता। जो नित्य है, वह अनित्य नहीं हो सकता और जो अनित्य है, वह नित्य नहीं हो सकता। किंतु जैनदर्शन में एक ही वस्तु को 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' के आधार पर नित्य और अनित्य दोनों माना गया है। कोई द्रव्य अपने मूल स्वरूप में सदैव नित्य है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य है।

बोध प्रश्न—

परिणामीनित्यत्ववाद का अर्थ समझकर लिखें।

1.7.3.6 जैनदर्शन में गुण

द्रव्य की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि द्रव्य में गुण और पर्याय होते हो। कोई ऐसे द्रव्य की कल्पना भी सम्भव नहीं है जिसमें गुण का अभाव हो। यहां द्रव्य की नित्यता गुण से ही सिद्ध की गयी है। यदि गुण का अस्तित्व न होता तो द्रव्य का नित्यत्व कैसे सिद्ध होता? द्रव्य की प्राचीन परिभाषा में गुण के समूह को ही द्रव्य माना गया है, इससे भी गुण का वैशिष्ट्य उजागर होता है।

गुण की परिभाषा

उत्तराध्ययन में गुण को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जो द्रव्य के आश्रित है वह गुण है। वैशेषिक सूत्र में भी गुण को द्रव्य के आश्रित माना गया है। आचार्य उमास्वाति ने आगमिक परम्परा का अवलम्बन लेते हुए भी वैशेषिक सूत्र का उपयोग करके गुण का लक्षण करते हुए कहा है कि—‘द्रव्याश्रयाः निर्गुणा गुणाः’ अर्थात् द्रव्य जिसका आश्रय है और जो स्वयं अन्य गुणों को आश्रय नहीं देते, वे गुण हो। वैशेषिक दर्शन में जहां द्रव्य एवं गुणों के सम्बन्ध के लिए समवायि सम्बन्ध को स्वीकार किया गया है, वहीं जैनदर्शन में द्रव्य एवं गुण का सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध अर्थात् कभी पृथक् न होने वाला सम्बन्ध है। तभी तो गुण के बारे में यह भी कहा गया है कि यह द्रव्य का सहभावी है—‘सहभावीधर्मो गुणः’ अर्थात् द्रव्य के सहभावी (साथ-साथ होने वाले) धर्म को गुण कहते हो। सहभावी धर्म द्रव्य से कभी अलग नहीं होता। द्रव्य है तो गुण है और द्रव्य नहीं तो गुण भी नहीं है। इनका अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है।

गुणों के प्रकार

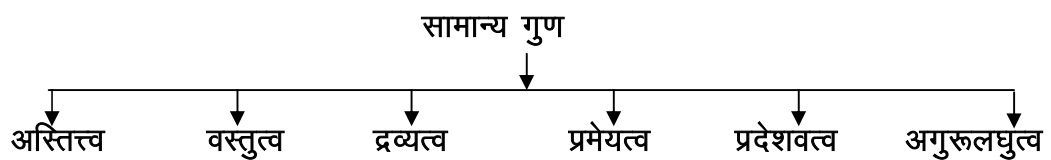
गुणों के प्रकार के संदर्भ में कहा गया है—‘सामान्यो विशेषश्च’ अर्थात् गुण के मूलतः दो प्रकार हो—

1. सामान्य गुण, 2. विशेष गुण।

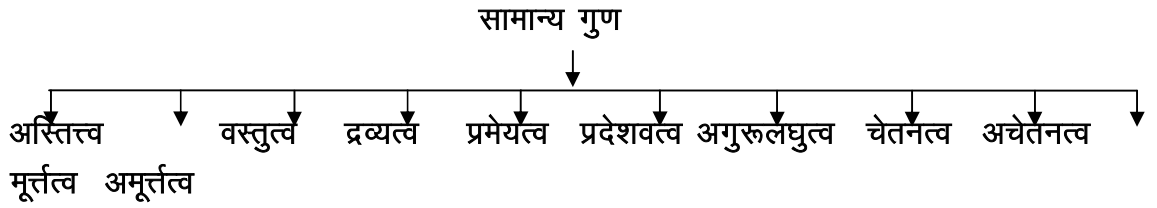
सामान्य गुण—सभी द्रव्यों में समान रूप से व्याप्त रहने वाला गुण सामान्य गुण कहलाता है। यह गुण सभी द्रव्यों में पाया जाता है। इसीलिए इसे सामान्य गुण कहा गया है।

सामान्य गुण के प्रकार

सामान्यतः आगमों में सामान्य गुण छः प्रकार के बतलाये गये हो किंतु द्रव्यानुयोगतर्कणा में आचार्य भोजसागर ने 10 सामान्य गुणों का उल्लेख किया है। चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व ये चारों गुण सामान्य एवं विशेष दोनों स्वीकार किये गये हो। मूलतः सामान्य गुण के छः प्रकार इस प्रकार हो—



भोजसागर के अनुसार सामान्य गुण 10 हो—



भोजसागर के अनुसार उपर्युक्त दस गुण सामान्य रूप से सब द्रव्यों के मिला करके कहे गये हो। इनमें से मूर्तत्व, अमूर्तत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व ये चार गुण परस्पर के परिहार से द्रव्य में रहते हो। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक—एक द्रव्य में आठ—आठ गुण होते हो। जहां चेतनत्व है, वहां अचेतनत्व नहीं और जहां मूर्तत्व है, वहां अमूर्तत्व नहीं है। इस कारण से प्रत्येक द्रव्य में आठ सामान्य गुण हो। अब एक—एक गुणों पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

अस्तित्व गुण—हर द्रव्य का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है, उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है। द्रव्य की सत्ता हर काल में है। जिस गुण के कारण द्रव्य की सत्ता तीनों कालों में है। वह गुण अस्तित्व गुण ही है। जैन सिद्धान्त दीपिका में इस गुण को परिभाषित करते हुए कहा गया है—“विद्यमानता अस्तित्वम्” अर्थात् जिस गुण के कारण द्रव्य सदैव विद्यमान रहता है, वह अस्तित्व सामान्य गुण है। इस गुण के कारण ही द्रव्य में उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यत्व सदैव बना रहता है।

वस्तुत्व गुण—‘अर्थक्रियाकारित्वम् वस्तुत्वम्’ अर्थात् जिस गुण के कारण द्रव्य कोई न कोई अर्थक्रिया अवश्य करे उसे वस्तुत्व गुण कहते हो। अर्थक्रिया के बिना वस्तु, अवस्तु हो जाती है।

द्रव्यत्व—‘गुणपर्यायाधारत्वम् द्रव्यत्वम्’ अर्थात् जिस गुण के कारण द्रव्य सदा एक जैसा न रहकर सदैव नये—नये पर्यायों को धारण करता रहे, उसे द्रव्यत्व नामक सामान्य गुण कहते हो। द्रव्यत्व द्रव्य में होने वाले सभी प्रकार के परिवर्तनों का आधार है। इसी गुण के कारण ही जीव द्रव्य नारक, तिर्यच, मनुष्य, देव आदि विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करता रहता है।

प्रमेयत्व—‘प्रमाणेन परिच्छेद्यं प्रमेयं प्रणिगद्यते’ अर्थात् जो प्रमाण से जानने में आता है, वह प्रमेयत्व गुण है। दूसरे शब्दों में ‘प्रमाणविषयता प्रमेयत्वम्’ अर्थात् जिस गुण के द्वारा द्रव्य ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, वह प्रमेयत्व है। धर्म आदि सभी द्रव्यों का ज्ञान इसी गुण के कारण होता है।

प्रदेशत्व—‘अवयवपरिमाणता प्रदेशवत्त्वम्’ अर्थात् यह वह गुण है जिससे, द्रव्य के प्रदेशों का माप होता है। द्रव्य के इसी गुण के कारण द्रव्य के प्रदेशों का माप होना संभव है।

अगुरुलघुत्व—जो सूक्ष्म है तथा वाणी का विषय नहीं बनता वह अगुरुलघु नाम का सामान्य गुण है। द्रव्यानुयोगतर्कणा में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है—‘अगुरुलघुता सूक्ष्मा वागोचर विवर्जिता’ अर्थात् यह गुण सूक्ष्म है तथा वाणी का विषय नहीं है।

दीपिकाकार के अनुसार—‘स्वस्वरूपाविचलनत्वम् अगुरुलघुत्वम्’ अर्थात् जिस गुण के कारण द्रव्य अपने स्वरूप में स्थिर रहे। उसके अनन्त गुण आपस में इस प्रकार अनुस्यूत हों कि वे कभी बिखरकर अलग-अलग न हो जायें।

चेतनत्व गुण—‘चेतनत्वमनुभूतिः’ अर्थात् आत्मा का जो अनुभव है वह चेतनत्व है। मो सुखी हूं, मो दुःखी हूं, इस प्रकार का सारा व्यापार चेतनत्व गुण से होता है। छः द्रव्यों में मात्र जीव ही चेतन है।

अचेतनत्व गुण—‘अचेतनमजीवता’ अर्थात् जीव रहित स्वरूप अचेतन का है। जीव को छोड़कर शेष पांचों द्रव्यों में यह गुण विद्यमान रहता है।

मूर्तत्वगुण—‘रूपादियुक्तं मूर्तत्वम्’ अर्थात् जिसमें रूपादि गुण हो वह मूर्तत्व है। यह गुण पुद्गल द्रव्य में रहता है।

अमूर्तत्व गुण—जिसमें रूपादि गुण न हो वह अमूर्तत्व है। छः द्रव्यों में पुद्गल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य अमूर्त हो।

विशेष गुण

सामान्य गुण तो सभी द्रव्यों में पाये जाते हो। परन्तु विशेष गुण हर द्रव्य का अपना-अपना होता है। यह सब द्रव्यों में समान रूप से नहीं होता है। सामान्यतः 16 विशेष गुणों की चर्चा प्राप्त होती है। परन्तु द्रव्यानुयोगतर्कणाकार ने विशेष गुण 12 स्वीकार किये हो। चेतनत्व आदि चार गुणों को उन्होंने विशेष और सामान्य दोनों माना है। उन्होंने 12 विशेष गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

“ज्ञानं दृष्टिः सुखं वीर्यं स्पर्शगन्धौ रसेक्षणे।

गतिस्थित्यवगाहत्ववर्तनाहेतुतापराः।।”

ज्ञान, दर्शन, सुख तथा वीर्य ये चार आत्मा के विशेष गुण हो तथा रस, गन्ध, स्पर्श तथा वर्ण ये चार पुद्गल के विशेष गुण हो तथा गति, स्थिति, अवगाहन और वर्तना ये धर्मादि द्रव्यों के विशेष गुण हो। इसके अतिरिक्त चेतनत्व—अचेतनत्व, मूर्तत्व—अमूर्तत्व ये परजाति की अपेक्षा से विशेष भी हो अतः इनका समावेश विशेष गुण में हो जाने से गुणों की संख्या 16 होती है। 6 द्रव्यों में किस द्रव्य में कितने विशेष गुण हो, इसका उल्लेख इस प्रकार है—

1.7.4 पर्यायः एक विश्लेषण

गुण की तरह पर्याय भी द्रव्य का धर्म है। ‘सहभावी गुणों धर्मः पर्यायो क्रम भाव्यथ’ अर्थात् गुण द्रव्य के साथ निरन्तर रहता है और पर्याय बदलता रहता है अतः यह भी कहा गया है—‘अन्वयिनो गुणाः व्यतिरेकिणः पर्यायाः’ अर्थात् गुण द्रव्य अन्वयि धर्म है और पर्याय व्यतिरेकी धर्म है। उत्तराध्ययन में पर्याय को परिभाषित करते हुए कहा गया है—जो मात्र द्रव्याश्रित होता है, उसे पर्याय कहते हो। पर्याय द्रव्य एवं गुण दोनों के आश्रित होता है। तत्त्वार्थकार ने पर्याय को परिणामन के रूप में व्याख्यायित करते हुए कहा है—‘तद्भावः परिणामः’ अर्थात् परिणाम ही पर्याय का दूसरा नाम है। जिस द्रव्य का जो स्वभाव है उसी के

भीतर उसमें परिवर्तन होता रहता है। द्रव्य न कूटस्थ है और न क्षणिक किन्तु परिणामी है। द्रव्य स्वयं अपने मूल स्वरूप की हानि किये बिना प्रतिसमय भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते रहते हो। द्रव्यों की इन अवस्थाओं का नाम ही परिणाम है। दीपिका के अनुसार—‘पूर्वोत्तराकारपरित्यागादानं पर्यायः’ अर्थात् पूर्व आकार के परित्याग एवं उत्तर आकार की उपलब्धि को पर्याय कहते हो। जीव देह, नारक आदि में परिवर्तित होता है, पुद्गल भिन्न—भिन्न स्कन्ध के रूप में तथा धर्म आदि के साथ जीव एवं पुद्गल का संयोग एवं वियोग होता है। ये सब द्रव्य के पर्याय हो। जीव का ज्ञान, दर्शन आदि गुणों में तथा पुद्गल का स्पर्श, रस आदि में परिवर्तन होता रहता है, ये सब गुण के पर्याय हो।

1.7.4.1 पर्याय के प्रकार

चूँकि पूर्व एवं उत्तर अवस्थाएं अनन्त हो अतः पर्याय भी अनन्त हो किन्तु संक्षेप में उन्हें दो भागों में विभक्त किया जाता है।

1. व्यंजन पर्याय।—“स्थूलः कालान्तरस्थायी शब्दानां संकेतविषयो व्यंजनपर्यायः” जो पर्याय स्थूल होता है—सर्व साधारण के बुद्धिगम्य होता है, कालान्तर स्थायी अर्थात् त्रिकालस्पर्शी होता है तथा जिसे शब्दों द्वारा बताया जा सके वह व्यंजन पर्याय है।

2. अर्थ पर्याय।—“सूक्ष्मा वर्तमानवर्ती अर्थपरिणामः अर्थपर्यायः”—जो सूक्ष्म तथा वर्तमानवर्ती होता है, द्रव्य बदलने पर भी आकार नहीं बदलता वह अर्थपर्याय है।

एक दूसरी दृष्टि से भी पर्याय के दो भेद किये गये हो—1. स्वभाव पर्याय, 2. विभाव पर्याय।

‘परनिमित्तानपेक्षः स्वभावपर्यायः’ दूसरे के निमित्त की अपेक्षा न रखने वाली अवस्था को स्वभाव पर्याय कहते हो। ‘परनिमित्तानपेक्षो विभावपर्यायः’ दूसरे के निमित्त से होने वाली अवस्था को विभाव पर्याय कहते हो। इसे एक दृष्टान्त से इस प्रकार समझा जा सकता है। जैसे वृक्ष का एक फल स्वतः पकता है तो इस परिवर्तन को स्वभाव पर्याय कहते हो और एक फल तोड़कर अन्य माध्यमों से पकाया जाता है तो उसे विभावपर्याय कहते हो।

1.7.4.2 द्रव्य—गुण—पर्याय भेदाभेद

द्रव्य, गुण और पर्याय के भेद को स्पष्ट करने के बाद यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस बात का विवेचन कर लिया जाए कि द्रव्य, गुण एवं पर्याय में भेद है या अभेद अथवा भेदाभेद? उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि गुण और पर्याय से युक्त द्रव्य है और गुण—पर्याय से रहित कोई द्रव्य हो ही नहीं सकता अतः द्रव्य—गुण और पर्याय में सम्बन्ध स्पष्ट है। भेदाभेद के इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए तीन प्रकार के सम्बन्धों की पुष्टि आवश्यक है—

1. द्रव्य और गुण का भेदाभेद
2. गुण और पर्याय का भेदाभेद
3. द्रव्य और पर्याय का भेदाभेद

1.7.4.3 द्रव्य और गुण का भेदाभेद

द्रव्य और गुण में क्या सम्बन्ध है, इसे लेकर तीन प्रकार के प्रश्न उठते हो—

1. द्रव्य और गुण में भेद है,
2. द्रव्य और गुण में अभेद है,
3. द्रव्य और गुण में भेदाभेद है।

वैशेषिक दार्शनिक द्रव्य और गुण को सर्वथा भिन्न मानकर भेद पक्ष का समर्थन करते हो। उनके अनुसार द्रव्य और गुण के लक्षण भिन्न हो। द्रव्य गुणों का आधार होता है जबकि गुण द्रव्य के आश्रित होते हो। द्रव्य गुणवान होता है और गुण निर्गुण होते हो। अर्थात् गुणों के गुण नहीं होते हो। इसी प्रकार द्रव्य क्रियावान होता है और गुण निष्क्रिय होते हो। लक्षण की भिन्नता के साथ-साथ दोनों को जानने के प्रयास भी भिन्न हो। द्रव्य को जानने के लिए एक से अधिक इन्द्रिय एवं मन की अपेक्षा रहती है जबकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि गुणों को जानने के लिए सम्बंधित इन्द्रिय की ही अपेक्षा रहती है। जैसे घट, पट आदि द्रव्य को जानना है तो इन्द्रियों में नेत्रेन्द्रिय एवं स्पर्शेन्द्रिय दोनों आवश्यक हो किंतु रूप को जानना है तो नेत्रेन्द्रिय की ही अपेक्षा रहेगी अतः दोनों की पृथक्ता स्वतः प्रमाणित है।

न्याय-वैशेषिक के विपरीत जैन दार्शनिक द्रव्य और गुण के सर्वथा भेद का खण्डन करते हो। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार द्रव्य और गुण में परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध है। उनके अनुसार यदि गुणों को सर्वथा भिन्न माना जाए तो गुणों के आधार के रूप में किसी अन्य द्रव्य की कल्पना करनी होगी। इसी प्रकार पुनः उस द्रव्य में निहित गुणों को स्वतंत्र मानने पर उन गुणों के आधार के रूप में किसी अन्य द्रव्य की कल्पना करनी होगी। परिणामतः अनवस्था दोष आ जायेगा। चूंकि गुण अनन्त है तो द्रव्य भी अनन्त हो जायेंगे। गुणों का समुदाय द्रव्य है। यदि गुणों को सर्वथा भिन्न मानें तो द्रव्य के अस्तित्व का संकट आ जायेगा अतः द्रव्य और गुण पृथक्-पृथक् नहीं है। न्याय-वैशेषिक का समवाय सम्बन्ध भी यहां मान्य नहीं है। न्याय-वैशेषिकों के अनुसार दोनों भिन्न हो पर वे समवाय सम्बन्ध से सम्बंधित होते हो। जैनदर्शन समवाय नामक स्वतंत्र पदार्थ की आवश्यकता नहीं समझता। उनके अनुसार यदि समवाय की स्वतंत्र सत्ता मान लें तो जिस प्रकार पट में पटत्व के सम्बन्ध के लिए समवाय की जरूरत है वैसे ही समवाय में समवायत्व के सम्बन्ध के लिए एक अन्य समवाय चाहिए। इस प्रकार अनवस्था दोष का प्रयोग उपस्थित होगा इसलिए जैनदर्शन में समवाय सम्बन्ध के स्थान पर तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकृत है।

जिस प्रकार न्याय-वैशेषिक द्रव्य और गुण में सर्वथा भेद मानते हो। वैसे ही ब्रह्माद्वैतवादी इनमें सर्वथा अभेद मानते हो। ब्रह्माद्वैतवादियों के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध करते हो। उनके अनुसार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है। इसी तरह शब्दाद्वैतवादी शब्द को तथा ज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान को ही एकमात्र परमसत् मानते हो। उनके अनुसार ब्रह्म, शब्द और ज्ञान में द्रव्य और गुण का कोई भेद नहीं होता है। यहां अभेद ही पूर्णतः सत्य है।

जैन दार्शनिक एकान्तिक अभेद को स्वीकार नहीं करते। अकलंक के अनुसार द्रव्य और गुण को एकान्ततः अभिन्न मानने पर या तो गुण रहेंगे या द्रव्य। गुण निराश्रय नहीं रह सकते। फलतः द्रव्य के अभाव में गुणों का भी अभाव हो जायेगा और यदि द्रव्य की ही सत्ता

मानें तो द्रव्य निर्गुण हो जायेंगे जबकि हम जानते हो कि गुण के आधार पर ही द्रव्य का स्वरूप निर्धारित होता है अतः द्रव्य और गुण में पूर्णतः अभेद सम्बन्ध भी नहीं है।

1.7.4.4 गुण और पर्याय में सम्बन्ध

कुछ जैनाचार्य गुण और पर्याय में भेद मानते हो तो कुछ अभेद मानते हो। उत्तराध्ययन में द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों का स्वतंत्र निरूपण हुआ है। वहां यह भी बताया गया है कि पर्याय द्रव्य और गुण—इन दोनों के आश्रित हैं। जैसे द्रव्य की पर्याय बदलती है, वैसे गुण की भी पर्याय बदलती है। उमास्वाति, कुन्दकुन्द व पूज्यपाद ने द्रव्य और गुण तथा गुण और पर्याय में अर्थभेद बतलाया है। पूज्यपाद ने तो इस संदर्भ में एक गाथा भी प्रस्तुत की है—

“गुण इति द्रव्यविहाणं द्रव्यविकारो हि पञ्जवो भणिदो ।

तेहि अणूणं द्रवं अजुद पसिद्धं हवे द्रवं ।।”

इस गाथा के माध्यम से पूज्यपाद ने गुण और पर्याय का अर्थभेद सिद्ध किया है। ‘गुणपर्यायवद् द्रव्यम्’ में गुण और पर्याय की अलग-अलग स्वीकृति भी दोनों को भिन्न सिद्ध करती है। सिद्धसेन दिवाकर ने गुण और पर्याय में अभेद सम्बन्ध को स्वीकार किया है। उन्होंने द्रव्य और पर्याय इन दो को ही मान्य किया है। उनके अनुसार गुण और पर्याय एक हो। वे तर्क भी देते हो कि भगवान् ने द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय—इन दो नयों से ही वस्तु का प्रतिपादन किया है। यदि गुण, पर्याय से भिन्न होते तो गुणार्थिक नय का भी उल्लेख अवश्य होता। गुण और पर्याय एक ही है अतः गुण और पर्याय किसी दृष्टि से भिन्न है तो किसी दृष्टि से अभिन्न भी।

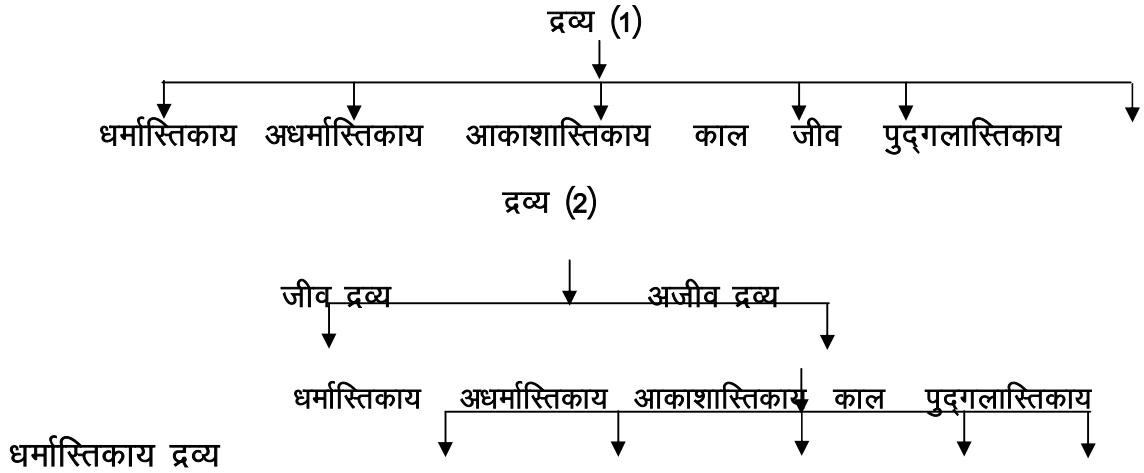
1.7.4.5 द्रव्य और पर्याय का भेदाभेदवाद

प्राचीन आगम साहित्य में द्रव्य और पर्याय दो ही शब्दों का निर्देश मिलता है। वहां गुण की स्वतंत्र संज्ञा नहीं है। गुण और पर्याय दोनों को ही ‘पर्याय’ शब्द से अभिव्यक्त किया गया है। सिद्धसेन ने तो दोनों की एकार्थता सिद्ध की है। गुण और पर्याय दोनों में परिणमन है अतः दोनों एक हो। द्रव्य और पर्याय के संदर्भ में भी न्याय-वैशेषिक जहां भेद मानते हो वहां वेदान्ती अभेद मानते हो किंतु जैनदर्शन मूलतः भेदाभेदवाद का ही पक्षधर है। जैनाचार्य दोनों की भिन्नता या अभिन्नता का सापेक्ष प्रतिपादन करते हो। यदि दोनों को एकान्ततः अभिन्न मानें तो प्रश्न होगा कि फिर द्रव्य और पर्याय अलग-अलग नाम क्यों? यदि दोनों को एकान्ततः भिन्न माना जाये तो दोनों में सम्बन्ध कैसे होगा? दोनों प्रश्नों का निराकरण भेदाभेद सम्बन्ध मानने से सम्भव होता है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार—‘पर्याय रहित द्रव्य और द्रव्य रहित पर्याय होते ही नहीं अतः दोनों अन्योन्याश्रित हो।’ टीकाकार अमृतचन्द्र के अनुसार—जैसे दूध, दही, घी आदि से भिन्न गोरस नहीं होता, वैसे ही पर्याय से रहित द्रव्य नहीं होता। आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय दृष्टि से द्रव्य और पर्याय को अभिन्न माना है तो वहीं व्यवहार नय की दृष्टि से भिन्नता भी स्वीकार की है। सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य है और पर्यायार्थिक नय का विषय पर्याय है। द्रव्य पर्याय से रहित नहीं होता और पर्याय द्रव्य से रहित नहीं होते, अतः दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

इस प्रकार द्रव्य-गुण सम्बन्ध, गुण-पर्याय सम्बन्ध तथा द्रव्य-पर्याय सम्बन्ध का विश्लेषण करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हो कि द्रव्य-गुण और पर्याय का सम्बन्ध जैनदर्शन में न्यायवैशेषिक की तरह न तो भेद का सम्बन्ध है और न ही अद्वैत वेदान्ती की तरह अभेद का सम्बन्ध है, अपितु भेदाभेद का सम्बन्ध है।

1.7.4.6 द्रव्य के भेद

जैन सिद्धान्त दीपिका में द्रव्य का विवेचन करते हुए कहा गया—
धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवास्तिकाय द्रव्याणि ।
धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशस्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये द्रव्य हैं।
काल अनस्तिकाय द्रव्य है—



भारतीय दर्शनों में धर्म और अधर्म शब्द का उल्लेख पुण्य, पाप, प्रशस्त-अप्रशस्त कार्य के रूप में किया जाता है। जैन दर्शन के आचार मीमांसा में भी यही अर्थ मान्य है किंतु तत्त्वमीमांसा में यहां धर्म और अधर्म एक विशेष अर्थ में प्रयोग हुआ है। जैनदर्शन के अतिरिक्त और किसी भी दर्शन में धर्म और अधर्म को द्रव्य रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। यहां धर्म को 'गतिसहायो धर्मः' के रूप में परिभाषित किया गया है। उत्तराध्ययन में धर्म का लक्षण बताते हुए कहा गया है—'गइलक्खणो धम्मो' अर्थात् गतिक्रिया सहायक धर्मास्तिकाय द्रव्य है। भगवती सूत्र में गणधर गौतम स्वामी के एक प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—'जीव और पुद्गल के गमन में जो सहायक द्रव्य है वह है धर्मास्तिकाय।'

धर्मास्तिकाय नामक यह द्रव्य गतिशील जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से सहायक होता है। जैसे मछली पानी में तैरती है तो पानी में तैरने की शक्ति मछली की स्वयं की है। पानी तैरने के लिए उसे न तो प्रेरित कर सकता है और न ही दबाव डाल सकता है। मछली की इच्छा के बिना पानी उसका कुछ भी नहीं कर सकता। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि धर्मास्तिकाय न स्वयं गतिशील जीव और न किसी को गति करने या चलने के लिए प्रेरित करता है। वह तो जीव और पुद्गल की गति में निमित्त मात्र है। जैसे जल मछलियों के लिए गति में अनुग्रहशील है, वैसे ही धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों के लिए गति में सहायक है। इस सम्बन्ध में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने लिखा है—'धर्म द्रव्य क्रियाशील पदार्थों को उनकी गति के समय स्वमेव सहायता देता है। वह उनकी गति में साधारण आश्रय है, जिस प्रकार मछली के लिए जल।'

धर्म द्रव्य का स्वरूप

धर्म द्रव्य का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है—

द्रव्य की दृष्टि से—धर्म द्रव्य एक अखण्ड, स्वतंत्र और वस्तुनिष्ठ सत् है। यह एक द्रव्य है। इस जैसा कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। यह अखण्ड है अर्थात् इसे विभाजित नहीं किया जा सकता। यह स्वतंत्र द्रव्य है अर्थात् यह किसी पर निर्भर नहीं है। अन्य द्रव्य अपनी गति के

लिए इस पर निर्भर हो। यह काल्पनिक सत् नहीं अपितु त्रैकालिक वास्तविक सत् है। यह किसी के मनस पर निर्भर नहीं है। इसका अपना वास्तविक स्वरूप है।

क्षेत्र की दृष्टि से—क्षेत्र की दृष्टि से यह लोक में व्याप्त है इसलिए इसे लोकाकाश तक ही सीमित माना गया है। लोकाकाश में जितने प्रदेश हो, उतने ही प्रदेश इनके हो। संख्या की दृष्टि से ये प्रदेश असंख्यात हो। अलोकाकाश में इनका अभाव है अतः ये असीम न होकर ससीम हो।

काल की दृष्टि से—काल की दृष्टि से त्रिकालवर्ती है। इस धर्म द्रव्य का अस्तित्व अनादि और अनन्त है। इसका कोई आदि, अन्त नहीं है। यह आरम्भ से ही है और सदा रहेगा, अतः यह अनादि, अनन्त एवं शाश्वत है।

भाव अथवा स्वरूप की दृष्टि से—यह अमूर्त (स्पर्श आदि गुणों से रहित), अभौतिक, चैतन्यरहित तथा स्वयं अगतिशील है।

गुण की दृष्टि से—गतिशील पदार्थों की गति में अपेक्षित सहायता करना।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि धर्मास्तिकाय द्रव्य की अपेक्षा एक और अखण्ड द्रव्य है। क्षेत्र की अपेक्षा लोक तक है, काल की अपेक्षा त्रिकालवर्ती और भाव की अपेक्षा अमूर्त है, गण की अपेक्षा से गति सहायक है।

धर्मास्तिकाय की वैज्ञानिकता

दार्शनिक जगत् में किसी भी दार्शनिक ने गति में सहायक द्रव्य के रूप में जैनदर्शन के सिवाय धर्मास्तिकाय के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। किंतु विज्ञान जगत् में इस जैसा एक द्रव्य ईथर का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। वैज्ञानिक न्यूटन ने गति के माध्यम (डमकपनउ वडिबजपवद) के रूप में ईथर को स्वीकार किया था। न्यूटन ने प्रकाश तरंगों के प्रसार के माध्यम के रूप में ईथर को स्वीकार किया था। उनके अनुसार यह भौतिक तत्त्व ईथर समग्र आकाश में व्याप्त होकर प्रकाश तरंगों के प्रसार में माध्यम बनता है। कालान्तर में माइकलसन और मोर्ले अतिसूक्ष्मग्राही यंत्रों के आधार पर खोज करके इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ईथर का कोई प्रभाव प्रकाश की गति पर नहीं पड़ता। इसी आधार पर कालान्तर में आइन्स्टीन ने भी गति के माध्यम के रूप में भौतिक ईथर के अस्तित्व को नकार दिया। आधुनिक भौतिक विज्ञान में अब इस प्रकार के ईथर का अस्तित्व समाप्त हो गया पर इससे अभौतिक ईथर के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक सर आर्थर एडिंग्टन ने 'न्यू पाथवेज इन साइन्स' पुस्तक (पृष्ठ 38-41) में ईथर सम्बन्धी एक नये सिद्धान्त को स्वीकृति दी है। उनके अनुसार आपेक्षिकता के सिद्धान्त ने भौतिक ईथर का अस्तित्व भले ही मिटा दिया हो किंतु अभौतिक ईथर का अस्तित्व तो संभव हो सकता है। इस प्रकार आधुनिक अभौतिक ईथर को धर्मास्तिकाय के रूप में देखा जा सकता है।

अधर्मास्तिकाय द्रव्य

अधर्मास्तिकाय का स्वभाव भी धर्मास्तिकाय जैसा ही है। मात्र उसके विशेष गुण में अन्तर पड़ता है। अधर्मास्तिकाय द्रव्य को परिभाषित करते हुए द्रव्यानुयोगतर्कणा में कहा गया है—

“स्थितिहेतुर्यदाधर्मो, नोच्यते क्वापि चेद् द्वयोः।

तदा नित्या स्थितिः स्थाने, कुत्रापि न गतिर्भवति।।”

अर्थात् जीव और पुद्गल की स्थिति का उदासीन कारण अधर्म द्रव्य है। यदि ऐसा न होता तो पुद्गल और जीव की नित्य स्थिति होती, कहीं भी उनकी गति नहीं होती। जैन सिद्धान्त दीपिका में भी कहा गया है—स्थिति सहायोऽधर्मः—स्थिति में सहायक होने वाले द्रव्य को अधर्म कहते हैं।

कहा गया है कि धर्म जैसे जीव और पुद्गल की गति में सहायक है वैसे ही अधर्म, जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन रूप से सहायक है। जैसे पथिकों को विश्राम के लिए वृक्ष की छाया सहायक होती है। वृक्ष की छाया किसी को ठहरने के लिए प्रेरित नहीं करती या दबाव नहीं डालती अपितु छाया रुकने वालों के रुकने में मददगार साबित होती है। यदि छाया रोकने का मूल या उपादान कारण होती तो ऊधर से गुजरने वाले हर व्यक्ति को वह रोकती किंतु ऐसा होता नहीं अतः यही कहना उचित होगा कि वह जैसे उदासीन कारण है, वैसे ही अधर्मास्तिकाय भी जीव और पुद्गल की स्थिति का उदासीन कारण है। अब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से अधर्मास्तिकाय के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है—

अधर्म द्रव्य का स्वरूप

अधर्म द्रव्य का स्वरूप इस प्रकार है—

द्रव्य की दृष्टि से—यह धर्मास्तिकाय की तरह एक अखण्ड, स्वतंत्र और वस्तुनिष्ठ है। इसकी अपनी वास्तविक सत्ता है। यह द्रव्य से एक द्रव्य है।

क्षेत्र की दृष्टि से—यह समस्त लोक में व्याप्त है। इसका अस्तित्व केवल लोकाकाश तक ही है। इसकी पहुंच अलोक तक नहीं है अतः क्षेत्र की दृष्टि से इसे ससीम ही माना जा सकता है। यह असीम नहीं है। लोक परिमाण है।

काल की दृष्टि से—यह अनादि, अनन्त और शाश्वत है।

भाव की दृष्टि से—यह अमूर्त, अभौतिक, अचेतन एवं अगतिशील है।

गुण की दृष्टि से—पदार्थों के स्थिर रहने में अपेक्षित सहायता करना।

अतः यह कह सकते हो कि द्रव्य की दृष्टि से अधर्मास्तिकाय एक और अखण्ड, क्षेत्र की दृष्टि से ससीम, काल की दृष्टि से अनादि एवं अनन्त तथा भाव की दृष्टि से अमूर्त एवं अचेतन द्रव्य है।

धर्म और अधर्म का यौक्तिक आधार

किसी की भी सत्ता को स्वीकार करने का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। कार्यकारण नियम के अनुसार कुछ भी अकारण नहीं है। अब यह प्रश्न उठता है कि धर्म और अधर्म को मानने का क्या कारण हो सकता है? इसके लिए दो युक्तियां दी जा सकती हो—

1. गति, स्थिति के निमित्तक के रूप में, 2. लोक—अलोक की विभाजक शक्ति के रूप में।

प्रथम प्रश्न यह उठता है कि जीव और पुद्गल की गति और स्थिति का कारण किसे माना जाये? इस प्रश्न के उत्तर में जब हम कारणता के सिद्धान्त पर विचार करते हो तो हमें दो कारण दृष्टिगोचर होते हो—प्रथम उपादान कारण और द्वितीय निमित्त कारण। उपादान कारण वह होता है जो स्वयं कार्य रूप में परिणत हो जाये और निमित्त कारण वह होता है जो कार्य निष्पादन में सहायक हो। यदि किसी पदार्थ में गति या स्थिति होती है तो उसका उपादान कारण तो वह स्वयं होता है। किंतु निमित्त कारण क्या है? यह विचारणीय प्रश्न है। क्या वायु को निमित्त कारण माना जा सकता है? वायु को यदि निमित्त कारण मान लें तो फिर उसकी गति का कारण ढूंढना पड़ेगा। इस प्रकार एक दूसरे की गति का कारण ढूंढते हुए अनवस्था दोष से ग्रस्त होना पड़ेगा अतः गति का कारण वही हो सकता है जो स्वयं गतिमान न हो। वायु गतिशील होने के कारण गति का निमित्त कारण नहीं हो सकता।

यदि अगतिशील पृथ्वी और जल को निमित्त कारण माना जाये तो यह भी उपयुक्त नहीं होगा क्योंकि ये पदार्थ समस्त लोक में व्याप्त नहीं हो अतः ये भी निमित्त कारण नहीं हो सकते अतः ऐसे द्रव्य की आवश्यकता होगी जो—1. स्वयं अगतिशील हो, 2. समस्त लोक में व्याप्त हो, 3. दूसरे पदार्थों की गति में सहायक हो।

ऐसा द्रव्य आकाश भी नहीं कहा जा सकता। असीम और अनन्त होने के कारण गतिशील पदार्थों की गति भी अनन्त आकाश में संभव हो जायेगी और फिर यह विश्व अव्यवस्थाओं का ढेर मात्र होगा किंतु विश्व का रूप व्यवस्थित है अतः गति का निमित्त कारण धर्मास्तिकाय ही हो सकता है। इसी प्रकार स्थिति का निमित्त कारण भी वायु, पृथ्वी, जल, आकाश आदि न होकर अधर्मास्तिकाय ही सिद्ध होता है।

जैसे गति—स्थिति के निमित्तक के रूप में धर्म, अधर्म का अस्तित्व सिद्ध है, वैसे ही लोक—अलोक के विभाजक के रूप में भी इनका अस्तित्व सिद्ध होता है। लोक—अलोक के विभाजन का आधार क्या है? कोई अनित्य या अशाश्वत सत्ता विभाजन का आधार नहीं हो सकती क्योंकि यदि किसी ऐसी सत्ता को आधार माना भी जाये तो एक प्रश्न उठेगा कि उस सत्ता के नष्ट होने पर विभाजन को कैसे समझाया जा सकता है? अतः इनके विभाजन होने के आधार के रूप में छः द्रव्य ही विचारणीय हो। आकाश स्वयं विभाज्य होने के कारण विभाजन का आधार नहीं हो सकता। काल भी विभाजन का आधार नहीं हो सकता। काल को भी नैश्चयिक और व्यावहारिक काल में विभक्त करते हो। श्वेताम्बर परम्परा नैश्चयिक काल को जीव, अजीव का पर्याय मात्र मानती है। यह केवल औपचारिक द्रव्य है। व्यावहारिक काल लोक के सीमित क्षेत्र में ही विद्यमान है। जीव और पुद्गल गतिशील द्रव्य

हो अतः ये विभाजन का आधार नहीं बन सकते। इस प्रकार छः द्रव्यों में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय बचते हो जो इस विभाजन का आधार माने जा सकते हो। जहां ये हो वहीं जीव और पुद्गल गति और स्थिति करते हो और जहां ये नहीं हो वहां किसी द्रव्य की गति स्थिति सम्भव नहीं है अतः यह कहना युक्तियुक्त है कि लोक-अलोक के विभाजक द्रव्य के रूप में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व सिद्ध है।

आकाशास्तिकाय

आकाश की उपयोगिता पर एक बार गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा-भगवन्! आकाश तत्त्व से जीवों और अजीवों को क्या लाभ होता है?

भगवन् ने कहा-गौतम! आकाश नहीं होता तो ये जीव कहां होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहां व्याप्त होते? काल कहां वर्तन करता है? पुद्गल का रंगमंच कहां बनता? यह विश्व निराधार ही होता।

भगवान् महावीर के उत्तर से यह सिद्ध होता है कि आकाश द्रव्य की उपयोगिता बहुत अधिक है। इससे यह स्पष्ट है कि छः द्रव्यों में आकाश सबसे अधिक व्यापक, विशाल एवं विराट है।

आकाश का लक्षण

आकाश का लक्षण आधार (अवगाह) देना है। भगवती सूत्र में भगवान् महावीर ने कहा-‘अवगाह लक्खणेणं आगासत्थिकाए’ अर्थात् जो सभी द्रव्यों को युगपत् अवकाश देता है, स्थान देता है, वह आकाश द्रव्य है। जो सभी द्रव्यों का आधारभूत है और सबको अपने में समाहित कर लेता है वह आकाश है। यह एक ऐसा पात्र है जिसमें सब कुछ समाहित होने के बाद भी यह खाली है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में ‘आकाशस्यावगाहः’ कहकर पांचों द्रव्यों को आधार देने वाले द्रव्य के रूप में ही आकाश को स्वीकारा है। द्रव्यानुयोगतर्कणाकार ने आकाश के संदर्भ में लिखा है-

“यो दत्ते सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहनम्।

लोकालोकाप्रकारेण द्रव्याकाशः स उच्यते।।”

अर्थात् जो साधारण रूप से सब द्रव्यों को अवगाहन अर्थात् रहने को स्थान देता है वह आकाश द्रव्य है। यह लोक तथा अलोक इन दो भागों में विभक्त है।

जैन सिद्धान्त दीपिका के अनुसार-‘अवगाहलक्षण आकाशः’ अवगाह देने वाले द्रव्य को आकाश कहते हो। लोक व्यवहार में प्रायः नीले रंग का जो आकाश दिखाई देता है, उसे आकाश माना जाता है किंतु वास्तव में वह आकाश नहीं है क्योंकि आकाश केवल ऊपर ही नहीं है अपितु सर्वत्र है। यदि आकाश सर्वत्र न हो तो व्यक्तियों और वस्तुओं को आधार कौन देगा? ऊपर जो नीला रंग दृष्टिगोचर होता है वह पौद्गलिक है। उसकी संरचना पुद्गल से है। उसे आकाश नहीं माना जा सकता।

अब एक प्रश्न उठता है कि लोकाकाश असंख्यात प्रदेश वाला है। जीव और पुद्गल अनंत हो तो फिर असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश में ये कैसे समा सकते हो? इस प्रश्न के समाधान के लिए जैनदर्शन में एक दृष्टान्त दिया जाता है कि जैसे कमरे का एक-एक प्रदेश एक बल्ब से जगमग हो जाता है, थोड़ा भी स्थल प्रकाश से रिक्त नहीं होता। उसी कमरे में यदि कई बल्ब लगा दिये जाएं तो उनका सबका प्रकाश भी कमरे में मिल जाता हो। किसी बल्ब का प्रकाश किसी अन्य बल्ब के प्रकाश में बाधा नहीं डालता है, इसी प्रकार सभी द्रव्य एक दूसरे द्रव्य को बिना व्याघात पहुंचाये उन्हीं आकाश प्रदेशों पर रहते हो। अभिप्राय यह है कि एक प्रदेश पर एक परमाणु रहता है, उसी पर असंख्य एवं अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी रह सकता है इसलिए यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अनन्त जीव द्रव्य और अनन्त परमाणु समाहित हो जाते हो।

आकाश का स्वरूप

जैनदर्शन में आकाश के समग्र स्वरूप को बहुत विस्तार के साथ निरूपित किया गया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से भी आकाश के स्वरूप को समझा जा सकता है—

द्रव्य की दृष्टि से—आकाश एक अखण्ड, स्वतंत्र, वस्तुनिष्ठ और वास्तविक सत्ता है। अवगाहन की दृष्टि से सभी द्रव्य आकाश पर निर्भर हो। वह किसी पर निर्भर नहीं।

क्षेत्र की दृष्टि से—आकाश अनन्त और असीम है। वह सर्वव्यापी है इसलिए लोक से परे भी इसका अस्तित्व है। लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात और अलोकाकाश के प्रदेश अनन्त हो। वह लोक अलोक परिमाण है।

काल की दृष्टि से—इसका अस्तित्व अनादि, अनंत और शाश्वत है। यह उत्पत्ति और विनाश से परे है।

भाव की दृष्टि से—आकाश अमूर्त अर्थात् स्पर्श, रूप, रस, गंध से रहित है। अभौतिक अर्थात् जड़ द्रव्य पुद्गल से भिन्न है। चैतन्य रहित एवं अगतिशील है।

गुण की दृष्टि से—भाजन गुण (स्थान देना)

इस प्रकार आकाश एक अखण्ड द्रव्य है किंतु लोकाकाश और अलोकाकाश के रूप में इसके दो भेद भी हो।

दिक् और आकाश

जैनदर्शन के अनुसार दिक् (दिशा) का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। यह आकाश का ही एक काल्पनिक अंश है। आकाश के जिस भाग से वस्तु का निरूपण किया जाता है, वही दिशा कहलाता है। वैशेषिक दर्शन में आकाश की तरह दिशा को भी एक स्वतंत्र द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। यदि पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण के आधार पर दिशा को स्वतंत्र द्रव्य मानें तो फिर पूर्वदेश, पश्चिमदेश, उत्तरदेश और दक्षिणदेश आदि का व्यवहार भी करना होगा। इस आधार से देशद्रव्य, जिलाद्रव्य, प्रांतद्रव्य, राष्ट्रद्रव्य एवं विश्वद्रव्य आदि अनेक द्रव्यों की कल्पना भी की जा सकती है इसलिए यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि दिशा अलग द्रव्य नहीं है। दिशा का प्रारंभ आकाश के दो प्रदेशों से होता है। वृद्धि होते

होते वे असंख्यप्रदोशात्मक बन जाती है। अनुदिशा केवल एक प्रदेशात्मक होती है। ऊर्ध्व और अधोदिशा चार प्रदेशों से प्रारम्भ होती है पर उनमें वृद्धि नहीं होती है। यहां ज्ञातव्य है कि सूर्योदय के आधार पर पूर्व आदि दिशा का कथन ताप दिशा की अपेक्षा से है।

आकाश और शब्द

जैनदर्शन में आकाश का विशेष गुण है आश्रय देना जबकि अन्य दर्शनों में आकाश का गुण शब्द माना गया है। वैशेषिक दर्शन ने शब्द को आकाश का गुण माना है। सांख्य दर्शन में शब्द को आकाश का मुख्य कारण माना है। जैनदर्शन इस बात से सहमत नहीं है कि शब्द आकाश का गुण है। यहां शब्द को पौद्गलिक माना गया है अतः यह मूर्त है। इसकी मूर्तता का प्रमाण यह है कि यह कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। चूंकि इन्द्रियां मूर्त हो अतः वे मूर्त पदार्थों को ही ग्रहण करती हो। जैनदर्शन के अनुसार बोलने के बाद शब्द (भाषावर्गणा के पुद्गल) सम्पूर्ण लोकाकाश में फैल जाते हो जहां उनको पकड़ने के साधन होते हो वहां उन्हें पकड़कर सुना जा सकता है। रेडियो, टेपरेकॉर्डर, माइक, ग्रामोफोन आदि के माध्यम से उन्हें कहीं भी सुना जा सकता है। चूंकि शब्द मूर्त है अतः मूर्त संसाधनों की पकड़ में यह आ जाता है। आकाश अमूर्त है। उसमें स्पर्श, रस, रूप, गन्ध आदि नहीं हो अतः अमूर्त आकाश का गुण मूर्त हो ही नहीं सकता। शब्द को इस आधार पर भी आकाश का गुण नहीं माना जा सकता कि उसे फैलने का आधार आकाश में ही मिलता है। यदि इस आधार पर शब्द को आकाश का गुण माना जाये तो धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल, जीव सभी आकाश के गुण हो जायेंगे क्योंकि आकाश ही उन्हें आश्रय प्रदान करता है अतः इस आधार पर भी शब्द आकाश का गुण नहीं हो सकता। यदि शब्द आकाश का गुण है तो लोक के बाहर भी उसे होना चाहिए। लोक के बाहर अलोक में आकाश है किंतु वहां शब्द नहीं है अतः यह कहा जा सकता है कि शब्द अपनी मूर्तता के कारण और अलोक में व्याप्त न होने के कारण आकाश का गुण नहीं हो सकता। शब्द तो मूर्त पुद्गल का गुण है अतः वैशेषिक आदि दार्शनिकों का यह मत कथमपि ठीक नहीं है कि शब्द आकाश का गुण है।

लोकाकाश और अलोकाकाश

चूंकि समस्त आकाश द्रव्य अन्य द्रव्यों के द्वारा अवगाहित नहीं है अतः एक होने पर भी अन्य द्रव्यों के अस्तित्व के कारण इसे दो भागों में विभक्त किया जाता है—1. लोकाकाश, 2. अलोकाकाश।

आकाश का जो भाग शेष पांच द्रव्यों का आधार (आश्रय) बनता है, वह तो लोकाकाश है और शेष भाग जहां कोई द्रव्य नहीं है वह अलोकाकाश है। लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या असंख्यात है तो अलोकाकाश के प्रदेश अनन्त हो। लोकाकाश एक, अखण्ड, शान्त और ससीम है तो अलोकाकाश एक, अखण्ड, असीम और अनन्त है। ससीम लोक चारों ओर अनन्त अलोक से घिरा हुआ है।

एक बार गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—“भगवन! अलोक का आकार कैसा है?”

भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—“हे गौतम! खाली गोले की रिक्तता जैसा आकार है।” अर्थात् अलोक एक विशाल गोले के समान है, जिसकी त्रिज्या अनन्त है अतः यह कहना उचित ही है कि लोकाकाश की स्थिति विशाल समुद्र में उठे हुए एक द्वीप की तरह है और शेष फैला हुआ समुद्र अलोक है। एक बात और ध्यातव्य है कि मूलतः लोक और अलोक एक और अखण्ड हो। इनका विभाजन अन्य द्रव्यों के अस्तित्व के कारण होता है। जहां अन्य द्रव्य हो, वह लोक और जहां अन्य द्रव्य नहीं हो, वह अलोक है।

यहां एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि आकाश का गुण अवकाश देना है तो लोक के बाहर जहां अन्य कोई द्रव्य नहीं है, वहां यह गुण क्यों नहीं रहता? हम यह भी जानते हो कि गुण-गुणी का सम्बन्ध शाश्वत है तो अलोक में ऐसा क्यों नहीं होता है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि तालाब में पानी नहीं है तो क्या हम यह कह सकते हो कि तालाब में पानी को आश्रय देने की क्षमता नहीं है? उसी प्रकार यदि अलोक में स्थान लेने वाला कोई द्रव्य नहीं है तो हम यह नहीं कह सकते कि आश्रय देना उसका गुण नहीं है। आश्रय देना उसका त्रैकालिक गुण है, स्वभाव है। आवश्यकता है पदार्थ या द्रव्य के उपस्थित होने की। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हो कि अलोक मात्र अवगाह देने की क्षमता रखता है, पर अन्य द्रव्य उसमें आश्रय लेने की क्षमता नहीं रखते हो।

बोध प्रश्न—

जैन दर्शन के अनुसार शब्द आकाश का गुण क्यों नहीं है? लिखें।

काल

सामान्य व्यवहार में प्रयोग में आने वाला समय शब्द ही काल का सूचक है किंतु जैनदर्शन में ‘समय’ को भिन्न अर्थ में लिया गया है।

यहां समय को काल का अविभाज्य अंश माना गया है। समय काल का सबसे छोटा हिस्सा है जिसके दो भाग नहीं हो सकते। काल स्थूल है और समय सूक्ष्म है। काल प्रवाह रूप है तो समय प्रवाह से रहित है। आगमों में समय का माप इस प्रकार बताया गया है—एक परमाणु को एक आकाश-प्रदेश से दूसरे आकाश-प्रदेश तक जाने में जितना समय लगता है, वह एक समय है। आचार्यों ने इसे इस रूप में भी समझाया है कि आंख की पलक झपकने और खुलने में जितना काल लगता है, उसमें असंख्यात समय बीत जाते हो। कमल पत्रभेद और वस्त्रविदारण इन दो उदाहरणों से भी इसे समझा जा सकता है। कमल पत्रभेद से तात्पर्य है कि कमल के सैकड़ों पत्तों को क्रमशः एक-दूसरे के ऊपर रखकर एक तीक्ष्ण नोंक वाली बड़ी सूई को ऊपर रखकर जोर से दबाएं तो क्षणभर में ही सूई उन कमल पत्तों को छेदकर उस पार पहुंच जाती है। दूसरा वस्त्रविदारण से तात्पर्य यह है—एक शक्तिवान जुलाहा एक वस्त्र को फाड़ता है तो दर्शक को लगता है कि उसने सारा वस्त्र एक साथ फाड़ डाला किंतु उसमें भी एक-एक तंतु फटने में काल भेद होता है। जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार इन दोनों प्रक्रियाओं में असंख्यात समय लगते हो। समय इतना सूक्ष्म है कि हम उसे देख नहीं सकते।

प्रश्न यह उठता है कि अगर समय को हम देख नहीं सकते तो स्वीकार क्यों करते हो? उत्तर के रूप में कह सकते हो कि समय को सर्वज्ञ देख सकता है, अतः वह मान्य है।

काल और अनस्तिकाय

काल अस्तिकाय द्रव्य नहीं है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव—ये पांच अस्तिकाय हो। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में और आचार्य कुन्कुन्द ने पंचास्तिकायसार में उक्त पांच द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है। अन्य आचार्यों ने भी इसके लिए अस्तिकाय शब्द का प्रयोग किया है। ‘प्रदेशप्रचयः अस्तिकायः’ अर्थात् प्रदेशों के समूह को अस्तिकाय कहते हो। पांच द्रव्यों में धर्म, अधर्म और जीव असंख्यात प्रदेशों से युक्त हो। आकाश अनन्त प्रदेशों से युक्त है। इन पांच द्रव्यों की तरह काल भी एक द्रव्य है किंतु वह प्रदेशों के समूह के रूप में नहीं है। दीपिका में कहा गया—कालोऽप्रदेशी। काल अप्रदेशी है। काल का केवल वर्तमान समय ही अस्तित्व में होता है। भूत समय तो व्यतीत हो चुका है और भविष्य समय अभी उत्पन्न नहीं हुआ है। वर्तमान समय ‘एक’ होता है इसलिए इसका तिर्यक् प्रचय (तिरछा फैलाव) नहीं होता, इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है।

श्वेताम्बर परम्परा में काल के लक्षण

श्वेताम्बर परम्परा में काल को स्वतंत्र द्रव्य न मानकर औपचारिक द्रव्य माना गया है। वहां इसे स्वतंत्र द्रव्य न मानकर जीव और अजीव द्रव्य का पर्याय माना गया है। जहां इसके जीव—अजीव के पर्याय होने का उल्लेख है, वहीं इसे द्रव्य भी कहा गया है। इस विरोधी कथन को समाहित करते हुए यहां उल्लेख है कि निश्चय नय की दृष्टि से काल जीव—अजीव का पर्याय है और व्यवहार दृष्टि में यह द्रव्य है। इसका तात्पर्य यह है कि श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों ने काल के जो दो भेद किये उनमें व्यावहारिक काल को ही केवल औपचारिक द्रव्य माना जाता है। जैन सिद्धान्त दीपिकाकार के अनुसार—‘कालश्च जीवाजीवपर्यायत्वात् औपचारिकद्रव्यमसौ इत्यस्य पृथक् ग्रहणम्। क्षणवर्तित्वान्न च अस्तिकायः।’ अर्थात् काल ही द्रव्य है। काल जीव और अजीव का पर्याय होता है अतः यह औपचारिक द्रव्य है। इसी दृष्टि से शेष पांच द्रव्यों से इसका पृथक् प्रतिपादन हुआ है। यह क्षणवर्ती है। अतीत और भविष्य सत् नहीं है, अतः अनस्तिकाय है।

उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र में काल के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—‘कालश्चेत्येके’ अर्थात् कुछ आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हो। ‘सोऽनन्त समयः’ अर्थात् वह अनन्त समय वाला है। जब तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति यह कहते हो कि कुछ आचार्य काल को द्रव्य कहते हो तब उनका आशय यही है कि काल का स्वतंत्र द्रव्यत्व सर्वसम्मत नहीं है अतः यह कहना उपयोगी है कि काल को द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। इस संदर्भ में कहा गया कथन ‘उपकारकं द्रव्यम्’ उपयुक्त प्रतीत होता है। इस प्रकार व्यावहारिक काल को द्रव्य मानने का कारण यही है कि काल के कुछ एक उपकार हो। जिन उपकारों के कारण काल को द्रव्य की कोटि में गिना जाता है, वे मुख्यतया पांच हो—वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व।

नैश्चयिक काल अन्य द्रव्यों के परिवर्तन का कारण है। जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों में प्रत्येक समय में जो परिणमन होता रहता है, पर्याय बदलते रहते हो, वह नैश्चयिक काल के निमित्त से है। दूसरे शब्दों में नैश्चयिक काल को जीव और अजीव का पर्याय कहा गया है। इसकी पुष्टि में आगम का यह कथन प्रस्तुत करना उपयुक्त है। भगवान् महावीर से उनके शिष्य गौतम द्वारा प्रश्न पूछा गया—“हे भगवन्! काल किसको कहते हो?” तब भगवान् महावीर ने उत्तर में कहा—“हे गौतम! जीव को भी काल कहते हैं तथा अजीव को भी काल कहते हैं।” जो जिस द्रव्य की पर्याय है, वह उस द्रव्य के अंतर्गत आ जाता है अतः जीव की पर्याय जीव है और अजीव की पर्याय अजीव। इस प्रकार नैश्चयिक काल जीव भी है और अजीव भी है। काल का निरूपण जब निश्चय नय की दृष्टि से होता है, तब वह नैश्चयिक कहलाता है अतः वास्तविक काल नैश्चयिक काल ही है अतः निश्चय नय की दृष्टि से काल द्रव्य न होकर जीव और अजीव की पर्याय है। जीव या अजीव जिन-जिन अवस्थाओं में परिवर्तित होते हो, उनका कारण काल ही है।

दिगम्बर परम्परा में काल के लक्षण

श्वेताम्बर परम्परा की काल सम्बन्धी अवधारणा से दिगम्बर परम्परा की काल सम्बन्धी अवधारणा बिल्कुल भिन्न है। जहां श्वेताम्बर परम्परा में काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानते, वहां दिगम्बर परम्परा में काल को स्वतंत्र द्रव्य माना गया है। यहां काल को दो भागों में—व्यवहार और निश्चय रूप में भी विभक्त किया गया है किंतु इसकी परिभाषा भिन्न रूप से हुई है। द्रव्य संग्रह ग्रंथ में नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने काल के लक्षण को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

“द्वय परिवट्ठरुवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।

परिणामादीलक्खो वट्ठणलक्खो य परमट्ठो।। (गाथा-21)

लोयायासप्रदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का।

रयणाणं रासीइव ते कालाणू असंखदव्वाणि।।” (गाथा-22)

अर्थात् जो द्रव्यों के परिवर्तन रूप, परिणाम रूप देखा जाता है, वह तो व्यावहारिक काल है और ‘वर्तना’ लक्षण का धारक जो काल है, वह नैश्चयिक काल है। जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में रत्नों की राशि के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक कालाणु स्थित है और वे असंख्यात हो।” नैश्चयिक काल कालाणु के रूप में वास्तविक द्रव्य है। कालाणु रूप नैश्चयिक काल ‘वर्तना’ लक्षण के द्वारा जाना जाता है। प्रत्येक द्रव्य के समय-समय में होने वाले परिवर्तनों के उपादान कारण तो वे स्वयं होते हो किंतु उन परिवर्तनों के निमित्त कारण कालाणु ही होते हो, जिसे जैनदर्शन में ‘वर्तन’ कहा गया है। कालाणु द्रव्य का नैश्चयिक लक्षण ‘वर्तना’ है, जिससे ही कालाणु के निमित्त से द्रव्यों में परिवर्तन के साथ-साथ ध्रुवता (नित्यता) भी बनी रहती है। कालाणु भी उत्पाद्-व्यय और ध्रौव्य से युक्त है। वर्तमान ‘समय’ की उत्पत्ति, अतीत समय का व्यय और इन दोनों के आधारभूत कालाणु ध्रुव रहते हो अतः द्रव्य की परिभाषा ‘उत्पाद्व्ययध्रौव्ययुक्तंसत्’ कालाणु पर लागू होने से यह

भी वास्तविक द्रव्य है। रत्नों की राशि की जो उपमा दी गयी है, वह यह बताने के लिए है कि जिस प्रकार रत्न परस्पर एक दूसरे में नहीं मिलते हो, उसी प्रकार कालाणु भी एक-दूसरे में नहीं मिलते हो। परन्तु रत्नों की तरह न तो उनका आकार होता है और न ही उनमें स्पर्श, रस, रूप और गन्ध ही होते हो। स्पर्श, रूप, रस और गन्ध उन पदार्थों में होता है जो मूर्त हो, और आकार-प्रकार से युक्त हो अतः रत्नों की राशि से तुलना परस्पर प्रदेश या पार्थक्य की दृष्टि से ही उपयुक्त है।

दिगम्बर परम्परा में द्रव्यों में नवीनता और प्राचीनता का जो द्योतक है, वह व्यावहारिक काल है। यह परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि लक्षणों से जाना जाता है। व्यावहारिक काल आदि और अन्त सहित है और नैश्चयिक काल आदि और अन्त रहित है। व्यावहारिक काल स्वयं द्रव्य नहीं है। यह नैश्चयिक काल से सापेक्ष है।

दिगम्बर परम्परा में काल के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए पं. महेन्द्र कुमार 'न्यायाचार्य' लिखते हो-समस्त द्रव्यों के उत्पादादि रूप परिणमन में सहकारी 'काल द्रव्य' होता है। इसका लक्षण है वर्तना। यह स्वयं परिवर्तन करते हुए अन्यद्रव्यों के परिवर्तन में सहकारी होता है और समस्त लोकाकाश में घड़ी, घण्टा, पल, दिन, रात आदि व्यवहारों में निमित्त होता है। यह भी अन्य द्रव्यों की तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला है। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से रहित होने के कारण अमूर्तिक है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है। धर्म और अधर्म द्रव्य की तरह वह लोकाकाशव्यापी एक द्रव्य नहीं है क्योंकि प्रत्येक आकाशप्रदेश पर समय भेद इसे अनेक द्रव्य माने बिना नहीं बन सकता। लंका और कुरुक्षेत्र में दिन, रात आदि का पृथक्-पृथक् व्यवहार तत्तत् स्थानों के कालभेद के कारण ही होता है। एक अखण्ड द्रव्य मानने पर कालभेद नहीं हो सकता। द्रव्यों में परत्व-अपरत्व आदि व्यवहार काल से ही होते हो। पुरानापन और नयापन भी कालकृत होते हो। अतीत, वर्तमान और भविष्य के व्यवहार भी काल की क्रमिक पर्यायों से होता है। किसी भी पदार्थ के परिणमन को अतीत, वर्तमान या भविष्य कहना काल की अपेक्षा से ही हो सकता है।

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जहां श्वेताम्बर परम्परा में नैश्चयिक काल को केवल जीव और अजीव की पर्याय के रूप में माना गया है, वहीं दिगम्बर परम्परा में वास्तविक द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है।

काल का लक्षण

उत्तराध्ययनसूत्र में काल के लक्षण के संदर्भ में कहा गया है—‘वर्तना लक्षणो कालो’ अर्थात् ‘वर्तन’ काल का लक्षण है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में काल को परिभाषित करते हुए लिखा है कि—‘वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य’ अर्थात् वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व के द्वारा काल को जाना जाता है। जैनसिद्धान्त दीपिका में भी इसी प्रकार का उल्लेख है—

“वर्तना—परिणाम—क्रिया—परत्वापरत्वादिभिर्लक्ष्यः।”

इस प्रकार जैनदर्शन में काल को समझने के लिए पांच लक्षण बताये गये हो—वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व।

1. **वर्तना**—वर्तना का अर्थ वर्तमान रहना है अर्थात् पदार्थ का अस्तित्व कुछ अवधि तक रहने से है। यह अवधि काल का ही सूचक है। यद्यपि काल किसी भी द्रव्य को अस्तित्व प्रदान नहीं करता अपितु जिस अवधि तक द्रव्य या पदार्थ रहता है, वह काल से ही सम्बंधित है। अतीत और भविष्य को भी हम काल से ही जानते हो क्योंकि अतीत भी कभी वर्तमान था और भविष्य भी कभी वर्तमान होगा अतः हर प्रकार का अस्तित्व ‘वर्तना’ का सूचक है और इसी के द्वारा काल को पहचाना जाता है।

2. **परिणाम**—परिणाम से तात्पर्य अवस्थाओं के परिवर्तन से है। पदार्थों का नाना रूपों में परिणमन होना परिणाम है। बचपन, जवानी और बुढ़ापा यह काल के परिणाम के द्वारा ही संभव है। संसार के हर पदार्थ में हर क्षण परिवर्तन होता रहता है, वह परिवर्तन ही काल का रूप है। कोई कच्चा आम समय पाकर पक जाता है। आम की दोनों अवस्थाएं एक समय में नहीं होती हो। बिना काल परिवर्तन के एक ही वस्तु में दो परस्पर विरोधी गुण नहीं आ सकते अतः यह कहना उपयुक्त ही है कि काल के कारण हर पदार्थ में प्रतिक्षण सहज परिवर्तन होता रहता है।

3. **क्रिया**—गति आदि करना क्रिया है। क्रिया में गति आदि का समावेश होता है। ‘गति’ का अर्थ है—आकाश प्रदेशों में क्रमशः स्थान परिवर्तन करना अतः किसी भी पदार्थ की गति में स्थान परिवर्तन का विचार उसमें लगने वाले काल के साथ किया जाता है। काल हमारी हर क्रिया में सहयोगी है। काल के अभाव में अन्य सभी निमित्त होने के बावजूद भी वह क्रिया नहीं हो पाती अतः हर क्रिया के लिए समय आवश्यक है।

4. 5. **परत्व और अपरत्व**—परत्व का अर्थ प्राचीन और अपरत्व का अर्थ नवीन है। पहले होना परत्व और बाद में होना अपरत्व है। सिंधु घाटी की सभ्यता वैदिक सभ्यता से पुरानी है और वैदिक सभ्यता सिंधुघाटी से नवीन है—यह तथ्य भी बिना काल के नहीं समझा जा सकता। काल के द्वारा ही छोटे—बड़े का भेद समझा जा सकता है इसलिए परत्व और अपरत्व—ये दोनों काल के ही लक्षण हो।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यद्यपि काल को हम सीधे नहीं पकड़ सकते, पर ये पांच ऐसे लक्षण हो या काल के उपकार हो, जिनसे स्पष्ट रूप से हम काल को जान सकते हो तथा उसके अस्तित्व को पहचान सकते हो।

काल के विभाग

काल के दो विभाग—नैश्चयिक एवं व्यवहारिक काल का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यहां ठाणं के आधार पर हुए काल के चार विभागों का उल्लेख आवश्यक है—1. प्रमाण काल, 2. यथायुनिर्वृत्ति काल, 3. मरण काल, 4. अद्धा काल।

1. **प्रमाण काल**—काल के द्वारा पदार्थ मापे जाते हो, इसलिए उसे प्रमाण काल कहते हो।

2. **यथायुनिर्वृत्ति काल**—जीवन और मृत्यु भी काल सापेक्ष है, इसलिए जीवन के अवस्थान को यथायुनिर्वृत्ति काल कहते हो।

3. **मरण काल**—जीवन के अंत को मरण काल कहते हो।

4. **अद्धा काल**—अद्धा काल सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बंध रखने वाला काल है। यह व्यावहारिक और गणनात्मक है। भगवतीसूत्र के अनुसार 'समय' से लेकर 'पुद्गल परावर्त' तक के सारे कालमान अद्धा काल हो। जीव—अजीव की पर्याय रूप निश्चय काल लोकालोक व्यापी है, जबकि अद्धाकाल केवल मनुष्य लोक में ही होता है इसलिए मनुष्य लोक को समय क्षेत्र कहा जाता है। सूर्य, चन्द्र आदि की गति से अद्धाकाल का माप किया जाता है। जैन दर्शन के अनुसार लोक के मध्य भाग में तिर्यच लोक अवस्थित है। उसमें असंख्य द्वीप समुद्र है। इनमें से केवल अढ़ाई द्वीप के क्षेत्र को ही 'समय क्षेत्र' कहा गया है, क्योंकि सूर्य, चन्द्र आदि की गति केवल यहां तक सीमित है।

काल के अन्यमान

समय से लेकर पुद्गल—परावर्त तक के विभिन्न कालमानों का उपयोग जैनदर्शन में विविध संदर्भों में मिलता है। इनमें से कुछ कालमान 'संख्यात काल' की श्रेणी में हो तो अन्य असंख्यात काल या अनन्त काल की श्रेणी में हो, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

अविभाज्य काल	—	एक समय
असंख्यात समय	—	एक आवलिका
256 आवलिकाएं	—	एक क्षुल्लक भव (सबसे छोटी आयु)
17 क्षुल्लक भवों	—	एक प्राण या एक श्वासोच्छ्वास
7 प्राण	—	एक स्तोक
7 स्तोक	—	एक लव
38) लव	—	एक घड़ी (24 मिनट)
77 लव	—	दो घड़ी अथवा एक मुहूर्त (48 मिनट)
30 मुहूर्त	—	एक दिन—रात (अहोरात्रि)

15 दिन	—	एक पक्ष
2 पक्ष	—	एक मास
2 मास	—	एक ऋतु
3 ऋतु	—	एक अयन
2 अयन	—	एक वर्ष
5 वर्ष	—	एक युग
सांख्यात वर्ष	—	एक पल्योपम
10 क्रोड़ाक्रोड़ पल्योपम	—	एक सागरोपम
20 क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम	—	एक कालचक्र
अनन्त कालचक्र	—	एक पुद्गल परावर्त

कालद्रव्य की दृष्टि से—अनन्त द्रव्य ।

क्षेत्र की दृष्टि से—अढ़ाई द्वीप प्रमाण ।

काल की दृष्टि से—अनादि अनन्त ।

भाव की दृष्टि से—अरूपी

गुण की दृष्टि से—वर्तन गुण

पल्योपम का आकलन करने के लिए जैन परम्परा में एक उपमा का उल्लेख मिलता है। एक चार कोश का लम्बा—चौड़ा और गहरा कुआं है, उसमें नवजात यौगलिक शिशु के केशों को, जो मनुष्य केश के 2401 हिस्से जितने सूक्ष्म हो, असंख्य खण्ड कर ठसाठस भरा जाए, प्रति सौ वर्ष के अन्तर से एक—एक केशखण्ड निकालते—निकालते जितने काल में वह कुआं खाली हो, उतने काल को एक पल्योपम कहते हो ।

जीव

जीव द्रव्य की दृष्टि से—अनन्त द्रव्य

जीव क्षेत्र की दृष्टि से—लोक परिमाण

जीव काल की दृष्टि से—अनादि अनन्त

जीव भाव की दृष्टि से—अरूपी

जीव गुण की दृष्टि से—चैतन्य गुण

दार्शनिक जगत् में प्रायः जीवतत्त्व को किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों में स्वीकार किया गया है। अपवाद रूप में चार्वाक चार जड़ तत्त्वों से ही चेतना की भी उत्पत्ति स्वीकार करता है। उसके अनुसार पृथ्वी, जल, तेज और वायु ही मूल जड़ तत्त्व हो और जब ये मिलते हो तो चेतना की उत्पत्ति होती है। बौद्ध अनात्मवादी होते हुए भी पंच स्कन्धों के समूह के रूप से आत्मा को स्वीकार करते हो। उनके अनुसार संज्ञा, संस्कार, रूप, वेदना और विज्ञान मिलकर आत्मा बनते हो और अलग होकर आत्मा के अस्तित्व को नष्ट करते

हो। सांख्य पुरुष के रूप में नित्य आत्मा को स्वीकार करता है। वह अनेकात्मवादी है। न्याय-वैशेषिक भी अनेकात्मवादी हो और नित्य आत्मा को मानते हो परन्तु चेतना को आत्मा का स्वरूप लक्षण न मानकर आगन्तुक लक्षण मानते हो। जैन और वेदान्त चेतना को आत्मा का स्वरूपलक्षण मानते हो किंतु वेदान्त जहां एकात्मवादी है, वहीं जैन अनेकात्मवादी। जैनदर्शन में आत्मा को जीव कहा गया है। यह छः द्रव्यों में अकेला द्रव्य है जो चेतन है, शेष पांच द्रव्य अचेतन हो। जो जीव कर्म पुद्गलों से आबद्ध होकर संसार में भटकता रहता है, उसे संसारी जीव कहा गया है और जो कर्मपुद्गलों से पूरी तरह सदा के लिए अलग हो जाता है वह जीव मुक्त कहलाता है। मुक्त जीव लोकाग्र में सिद्धशिला में निवास करता है, उसे पुनः संसार में आने की जरूरत नहीं पड़ती है। इस प्रकार जैनदर्शन में संसारी और मुक्तजीव की अवधारणा प्रसिद्ध है।

पुद्गल

पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से—अनन्त द्रव्य

पुद्गल क्षेत्र की दृष्टि से—लोक परिमाण

पुद्गल काल की दृष्टि से—अनादि अनन्त

पुद्गल भाव की दृष्टि से—रूपी

पुद्गल गुण की दृष्टि से—गलन—मिलन स्वभाव

दार्शनिक मन्तव्य के अनुसार यदि चेतन तत्त्व सत् है तो उसके प्रतिपक्ष में जड़तत्त्व का भी अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। उसी जड़ द्रव्य के रूप में जैनदर्शन में पुद्गल द्रव्य का अस्तित्व भी स्वतः सिद्ध है। ‘**पूरण गलन धर्मा इति पुद्गलः**’ अर्थात् जिसमें मिलने और गलने का धर्म है, वह पुद्गल है। दूसरे शब्दों में कहें तो जो विकास और ह्रास को प्राप्त हो, वह पुद्गल है। विकास करते-करते यह महाचित स्कन्ध को प्राप्त होता है और ह्रास करते-करते यह परमाणु की स्थिति को प्राप्त होता है। परमाणु पुद्गल की सबसे सूक्ष्म इकाई है। यह अविभाज्य एवं अप्रत्यक्ष है। इस प्रकार पुद्गल का सूक्ष्म सिरा परमाणु और विराट् सिरा महाचित स्कन्ध है। संसारी जीवन के लिए पुद्गल का भी अपना महत्त्व है। संसारी व्यक्ति के हर कदम पर पुद्गल आवश्यक है। प्रातःकाल उठने से लेकर रात्रि में सोने तक संसारी प्राणियों का जीवन बिना पुद्गल के चल ही नहीं सकता अतः पुद्गल का वैशिष्ट्य भी स्वतःसिद्ध है।

सारांश

अंत में हम यह कह सकते हो कि जैनदर्शन में द्रव्य विचार को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। बिना छः द्रव्यों के लोक की व्यवस्था भी संभव नहीं है। जैनदर्शन में ‘**षडद्रव्यात्मको लोकः**’ कहकर छः द्रव्यों को संसार के लिए आवश्यक माना गया है। प्रस्तुत अध्याय में इनका विवेचन करते हुए हमने देखा कि हर द्रव्य, गुण और पर्याय युक्त होता है। द्रव्य, गुण और पर्याय आपस में एक ही हो तो पृथक् भी हो। द्रव्य, गुण और पर्याय में न तो कोरा भेद सम्बन्ध है और न ही अभेद सम्बन्ध अपितु भेदाभेद का सम्बन्ध है। छः द्रव्यों का अध्ययन

करते हुए अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हो कि हर द्रव्य की अपनी उपयोगिता एवं महत्त्व है। किसी द्रव्य के मूल्य को कम करके नहीं आंका जा सकता।

बोध प्रश्न

1. किस ग्रंथ में कहा गया है कि गुण समुदाय रूप द्रव्य हो?
2. आकाश का विशेष गुण क्या है?
3. धर्म का विशेष गुण क्या है?
4. काल अस्तिकाय है या अनस्तिकाय?
5. पुद्गल का सूक्ष्मतम रूप क्या है?

1.8 जीव स्वरूप, जीवसिद्धि, जीव के प्रकार विभिन्न दृष्टि से जैनदर्शन में जीव

इस दृश्य जगत् में जब से मानव ने आंखें खोली, तभी से उसके समक्ष एक प्रश्न उठता रहा है कि मो कौन हूं, कहां से आया हूं और अंत में कहां जाऊंगा? इसी प्रश्न ने उसे अपने आपको जानने के लिए प्रेरित किया। इसी 'मो' के विमर्श से 'आत्मतत्त्व' को जानने की प्रक्रिया शुरू हुई। इसी आत्मतत्त्व को जैनदर्शन 'जीव' के रूप में, सांख्य दर्शन पुरुष के रूप में और अन्य दर्शन आत्मा के रूप में अभिहित करते हो। जीवविचार अन्य भारतीय दर्शनों की तरह जैनदर्शन के केन्द्र में है। जैनदर्शन में जीव और अजीव तत्त्व मूल में माने गये हो। यहां जीव तत्त्व की विस्तार में मीमांसा की जा रही है।

1.8.1 जीवःव्युत्पत्तिपरक अर्थ

भ्वादिगणीय 'जीव' धातु से भाव में घञ् प्रत्यय के योग से जीव शब्द बना है। 'जीवनम् इति जीवः' अर्थात् जीवन या प्राण धारण करने को जीव कहते हो। जैन वाङ्मय में जीव के अनेक पर्यायवाची नामों का निर्देश मिलता है। भगवतीसूत्र में जीव, प्राण, भूत, सत्त्व, विज्ञ, वेत्ता, चेता, जेता, आत्मा आदि अनेक नामों का निर्देश है। धवलाकार ने भी जीव के पर्यायवाचक शब्दों का उल्लेख किया है। महापुराण में भी जीव, प्राणी, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, अन्तरात्मा, ज्ञानी आदि अनेक जीवार्थक शब्द प्रयोग में आये हो।

1.8.2 जैनदर्शन में जीव का स्वरूप

अदृश्य एवं अमूर्त होते हुए भी आत्मा को प्रायः दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। यदि अन्य भारतीय दर्शन ईश्वरवादी हो तो जैनदर्शन आत्मवादी है।

यहां जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर मिलन, ईश्वर सान्निध्य न होकर परमात्मा पद की प्राप्ति है। उपनिषदों में चैतन्यस्वरूप इस इन्द्रिय अग्राह्य आत्मा को अवक्तव्य माना गया है—“स एष नेति—नेति यतो वाचो निवर्तन्ते, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यः”। उपनिषद् के इस वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा शब्दातीत है, पर स्वानुभव का विषय है। आचारांग में भी आत्मा के स्वरूप का कुछ ऐसा ही वर्णन मिलता है—“सर्वे सरा नियद्वृत्ति, तत्कालतत्त्व न विज्जई, मइ तत्त्व न गाहिया”। अर्थात् शब्द आत्मा तक नहीं पहुंच सकते, वे लौट आते हो। चूंकि आत्मा अरूपी है, अतः उसे उपमा के द्वारा नहीं बताया जा सकता अतः

आत्मा शब्दातीत है अतः यह स्पष्ट है कि अमूर्त, अरूपी आत्मा का अस्तित्व अवश्य है। उसका निषेध नहीं किया जा सकता। उसके निषेध में ही उसका अस्तित्व सिद्ध है।

प्रायः दार्शनिक जीव की किसी एक विशेषता को ग्रहण करके उसे ही उसका स्वरूप मानकर चित्रित करते हो किंतु जैनदर्शन में जीव का सर्वांगीण स्वरूप मिलता है। विविध दार्शनिकों के आत्मा सम्बन्धी मतों का समन्वय भी जैनदर्शन के जीव स्वरूप में दृष्टिगोचर होता है। द्रव्यसंग्रह में जीव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—

“जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।

भोक्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्स सोड्डगई।”

अर्थात् आत्मा उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्त्ता है, देह परिमाण है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

1.8.3 उपयोगमय स्वरूप

जैन शास्त्रों में उपयोग शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है, ‘उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रतिव्याप्यते जीवोऽनेनेति उपयोगः’। अर्थात् जिसके द्वारा जीव वस्तु के परिच्छेद (परिज्ञान) अर्थात् बोध के लिए व्यापार करता है। वह उपयोग है। भगवती में कहा गया है—‘उवओग लक्खणे णं जीवे’ अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है। दीपिका में जीव की परिभाषा—‘उपयोग लक्षणो जीवः’। प्रश्न उठता है कि उपयोग क्या है? दीपिका के अनुसार ‘चेतना व्यापारो उपयोगः’ अर्थात् चेतना का व्यापार ही उपयोग है। तत्त्वार्थ में ‘चेतनालक्षणो जीवः’ कहकर जीव का स्वरूप लक्षण चेतना को माना गया है। नैयायिक चेतना को आत्मा का स्वरूप लक्षण न मानकर आगंतुक लक्षण मानते हो, अतः वे ज्ञान को भी आत्मा का स्वभाव न मानकर बाहर से आता हुआ मानते हो जबकि जैनदर्शन में आत्मा ज्ञानवान है। एकेन्द्रिय जीवों से लेकर सिद्धों तक में यह ज्ञान कम या अधिक रूप में अवश्य पाया जाता है। ज्ञान का पूर्ण विकास सिद्धों में होता है।

उपयोग दो प्रकार का है—साकार उपयोग और अनाकार उपयोग। जैन सिद्धान्त दीपिका में ‘साकारोऽनाकारश्च’ कहा गया है। चूंकि ज्ञान पर्यायों को ग्रहण करता है अतः उसे साकार उपयोग कहा जाता है, इसे सविकल्प उपयोग भी कहते हो किंतु जहां पर्याय को गौण करके केवल ध्रौव्य धर्म को ग्रहण किया जाता है उसे अनाकार कहते हो। इसे निर्विकल्प उपयोग भी कहते हो।

1.8.3.1 साकार उपयोग के आठ भेद

साकार उपयोग के आठ भेद हो। उनमें से 5 भेद के आधार पर पांच ज्ञानोपयोग हो—

1. मतिज्ञान के आधार पर मतिज्ञानोपयोग
2. श्रुतज्ञान के आधार पर श्रुतज्ञानोपयोग
3. अवधिज्ञान के आधार पर अवधिज्ञानोपयोग
4. मनःपर्यवज्ञान के आधार पर मनःपर्यायज्ञानोपयोग

5. केवलज्ञान के आधार पर केवलज्ञानोपयोग

मतिज्ञानोपयोग—पांच इन्द्रियों एवं मन के द्वारा चेतना का जो व्यापार होता है, वह मतिज्ञानोपयोग है। मति ज्ञान मूक व स्वयं के लिए एवं वर्तमान कालिक होता है जब कि श्रुत ज्ञान शब्द मय, त्रैकालिक व दूसरों को बोध कराने में सक्षम होता है।

श्रुतज्ञानोपयोग—शब्द, संकेत, शास्त्र आदि माध्यमों से इन्द्रियों और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञानोपयोग है। मति ज्ञान की प्रगाढ़ अवस्था ही श्रुतज्ञान है।

अवधिज्ञानोपयोग—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना चेतना के दर्पण पर मूर्त पदार्थों के जो बिम्ब उभरते हैं उन्हें पकड़ने वाली उपयोग अवधि ज्ञानोपयोग है। यह अतीन्द्रिय है इसमें तीव्र एकाग्रता की अपेक्षा रहती है इसलिए इसका निरुक्त किया गया 'अवधानम् अवधि।

मनःपर्यवज्ञानोपयोग—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना सामने वाले व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं, आकृतियों को जानना मनःपर्यवज्ञानोपयोग है। यद्यपि विशिष्ट अवधिज्ञान से भी मन की अवस्था को जाना जा सकता है। पर मनःपर्यवज्ञान से जो बोध होता है वह अधिक स्पष्ट और विशद होता है। जैसे एक फिजिशियन आंख, नाक, गला आदि का परीक्षण करता है वैसे ही विशेषज्ञ भी करता है लेकिन दोनों की जांच व चिकित्सा में अन्तर रहता है। इसी प्रकार मनःपर्यवज्ञान की तुलना में साधारण अवधिज्ञान नहीं आ सकता।

केवलज्ञानोपयोग—आत्मा के द्वारा सीधे मूर्त और अमूर्त सभी पदार्थों के सब पर्यायों का सम्पूर्ण साक्षात् ज्ञान करना केवल ज्ञानोपयोग है।

तीन अज्ञान पर आधारित उपयोग ये तीन प्रकार के हो—1. मति अज्ञान, 2. श्रुत अज्ञान, 3. विभंग अज्ञान।

ये मिथ्यादृष्टि के योग से अज्ञान कहलाते हो। अज्ञान के प्रकरण में अवधि के स्थान पर विभंग का उल्लेख हुआ है। निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हो कि मिथ्यात्वी का इन्द्रियजन्य ज्ञान मति अज्ञान, उसका शास्त्रीय ज्ञान, श्रुत अज्ञान और अतीन्द्रिय अवधि ज्ञान विभंग अज्ञान कहलाता है। मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान विशिष्ट साधकों के ही होते हो अतः उन्हें मिथ्यादृष्टि व्यक्ति कभी नहीं पा सकता, इसलिए वे अज्ञान नहीं होते। अज्ञान में ज्ञान चेतना का ही उपयोग होता है पर पात्र भेद होने से अर्थात् मिथ्या दृष्टि के योग से ये अज्ञान कहलाते हैं।

1.8.3.2 अनाकार उपयोग के चार भेद

अनाकार उपयोग के चार भेद हो—1. चक्षुदर्शन, 2. अचक्षुदर्शन, 3. अवधि दर्शन, 4. केवल दर्शन।

ज्ञान और दर्शन दोनों ही अवबोधक हो फिर भी ज्ञान में वैशिष्ट्य स्थायित्व है और दर्शन सामान्य व तात्कालिक है। ज्ञान त्रैकालिक और दर्शन केवल वर्तमान में होता है।

चक्षुदर्शन उपयोग—आंखों से जो सामान्य अवबोध होता है, वह चक्षुदर्शन उपयोग है।

अचक्षुदर्शन उपयोग—आंखों के अतिरिक्त चार इन्द्रियों और मन से जो सामान्य अवबोध होता है, वह अचक्षुदर्शन है।

अवधिदर्शन उपयोग—इन्द्रियों और मन के बिना मूर्त द्रव्यों का सामान्य अवबोध होना अवधिदर्शन उपयोग है।

केवलदर्शन उपयोग—अनावृत्त आत्मा के द्वारा समस्त रूपवान और अरूपवान द्रव्यों का सामान्य अवबोध होना केवलदर्शन उपयोग है।

यहां एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि ज्ञान पांच हो तो दर्शन चार ही क्यों हो? मनःपर्यवज्ञान है तो मनःपर्यव दर्शन क्यों नहीं? मनःपर्यव ज्ञान में मन की विविध आकृतियों को जाना जाता है। जो आकार अवस्था को जानता है वह अनाकार को कैसे जानेगा? दर्शन का विषय अनाकार उपयोग है इसलिए मनःपर्यव ज्ञान की भांति मनःपर्यव दर्शन नहीं हो सकता।

1.8.4. अमूर्त स्वरूप

चावार्क के मूर्तिक द्रव्य का परिहार करते हुए जैनदर्शन में जीव को अमूर्त माना गया है। शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से आत्मा में पुद्गल के गुण, रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं होते, इसलिए वह अमूर्तिक है पर संसार अवस्था में वह अनादि कर्मों से बद्ध होने के कारण रूपादिवान होकर मूर्तिक होता है। यह मूर्तत्व गुण चेतना का विकार है और विकार स्थायी नहीं होता, अतः वह अशुद्ध है अतः जैनदर्शन में निश्चय से जीवों को अमूर्त तथा व्यवहार से जीव को मूर्त कहा गया है। द्रव्यसंग्रह में स्पष्ट है—

“वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।

णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो।।” (गाथा-7)

ऐसा ही चित्रण समयसार में कुन्दकुन्द ने किया है—

“अरसमरूवमगंधमव्वत्तं चेदणागुणमसदं।

जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठं संठाणं।।” (गाथा-49)

अर्थात् जीव को रसरहित, रूपरहित, गंध रहित, अव्यक्त अर्थात् इन्द्रिय अगोचर, चेतना गुण वाला और शब्द रहित जानो। आचार्य अमृतचन्द्र ने ‘पुरुषार्थसिद्ध्युपाय’ में पुरुष नाम से आत्मा का अमूर्तिक लक्षण बतलाते हुए कहा है—

“अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शरसगन्धवर्णः।

गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुत्पादव्ययध्रौव्यैः।।”

अर्थात् पुरुष (आत्मा) चेतन स्वरूप है। स्पर्श, रस, गंध और रूप से रहित है। गुण पर्यायों से सहित तथा उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक है। इस प्रकार आत्मा अमूर्तिक है।

1.8.5 कर्ता स्वरूप

जैनदर्शन के अनुसार जीव अपने शुभाशुभ कर्मों व परिणामों का कर्ता है। भारतीय दर्शन में सांख्य पुरुष को कर्ता नहीं मानता है। वह समस्त कार्यों की कर्त्री प्रकृति को मानता है। सांख्य दर्शन के अनुसार—“अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यो सर्वगतोऽक्रियः”। अर्थात् आत्मा अकर्ता है। जैनदर्शन के अनुसार कर्ता कोई और भोक्ता कोई ऐसा नहीं हो सकता। यहां जीव के कर्तापन की स्थिति को द्रव्य संग्रह में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

“पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।

चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावा णं।।” (गाथा-8)

अर्थात् आत्मा व्यवहार से पुद्गल कर्म आदि का कर्ता है और निश्चय से अकर्ता है और शुद्ध्यनय से शुद्ध भावों का कर्ता है।

1.8.6 देह परिमाणत्व स्वरूप

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा देहपरिमाण है। यह चींटी जैसे सूक्ष्म शरीर मिलने पर संकुचित और हाथी जैसे स्थूल शरीर मिलने पर विस्तृत हो जाता है। एक दृष्टान्त देकर जैनदर्शन में जीव के देहपरिमाणत्व को सिद्ध किया गया है। जिस प्रकार छोटे कमरे में दीपक का प्रकाश संकुचित हो जाता है और बड़े कमरे में फैल जाता है। आत्मा के देहप्रमाण से तात्पर्य है कि आत्मा को अपने संचित कर्म के अनुसार जितना छोटा-बड़ा शरीर मिलता है, उस पूरे शरीर में वह व्याप्त होकर रहता है। शरीर का कोई अंग ऐसा नहीं होता कि जहां जीव न हो। जीव में संकोच-विस्तार करने की शक्ति है। यही कारण है कि जीव प्रदेश, धर्म, अधर्म और लोकाकाश के बराबर होते हुए भी कर्मार्जित शरीर में व्याप्त होकर रहता है जैसे पद्मराग रत्न को छोटे बर्तन में रखे हुए दूध में डाला जाता है तो वह सम्पूर्ण दूध को प्रकाशित करता है और जब उसी रत्न को बड़े बर्तन में रखे हुए दूध में डाला जाता है तो उस बड़े बर्तन के दूध को प्रकाशित करता है। इस प्रकार आत्मा शरीर में रहता हुआ सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित करता है किंतु यहां यह कहना आवश्यक है कि जीव के प्रदेशों में संकोच-विस्तार होते रहने पर भी उसके लोक प्रमाण आत्मप्रदेशों की संख्या में कोई हानि या वृद्धि नहीं होती। द्रव्य संग्रह में इसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

“अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।

असमुहदो ववहारो णिच्छयणयदो असंखदेसो वा।।” (गाथा-10)

अर्थात् व्यवहारनय से समुद्घात अवस्था के बिना यह जीव संकोच तथा विस्तार से छोटे और बड़े शरीर के परिमाण में रहता है और निश्चयनय से जीव असंख्यात प्रदेशों का धारक है।

अतः प्रश्न यह उठता है कि आत्माओं के संकोच विस्तार का कारण क्या है? जैनदर्शन में इसके कारण के रूप में कर्मण शरीर को माना गया है। कर्मण शरीर जब तक आत्मा के साथ रहता है तभी तक आत्मा में संकोच-विस्तार की शक्ति पायी जाती है। जिस समय आत्मा समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्त हो जाता है, उस समय उसमें संकोच विस्तार की शक्ति नष्ट हो जाती है अतः संसारी आत्मा संकोच-विस्तार शक्ति के कारण देह प्रमाण है।

1.8.7 भोक्ता स्वरूप

चूँकि आत्मा कर्ता है तो अपने किये हुए कर्मों का भोक्ता भी है। जैनदर्शन में व्यवहार नय की दृष्टि से जीव को अपने सुख-दुःखों का भोक्ता कहा गया है तथा निश्चय से अपने चैतन्यात्मक आनन्दस्वरूप का भोक्ता कहा गया है। यदि आत्मा सुख-दुःख का भोक्ता न हो तो सुख-दुःख की अनुभूति ही नहीं हो सकती। बौद्धदर्शन क्षणिकवादी है अतः वह न ही नित्यात्मा को स्वीकार करता है और न ही कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व को ही मानता है। यदि जीव को अपने कर्मों का भोक्ता न माना जाये तो कर्मव्यवस्था चरमरा जायेगी तथा पाप-पुण्य की व्यवस्था भी समाप्त हो जायेगी। यहां पर भी ध्यान देने की बात है कि सांख्यदार्शनिकों की तरह जैनदार्शनिक मात्र उपचार से कर्मफलों का भोक्ता न मानकर वास्तविक रूप से भोक्ता मानते हो। षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में उल्लिखित है कि—‘उपचरितवृत्या भोक्तारं चात्मानं मन्यमानानां सांख्यानां निरासः’ ‘तथा स्वकृतस्य कर्मणो यत्फलं सुखादिकं तस्य साक्षाद् भोक्ता च’ अर्थात् सांख्य में आत्मा का उपचार से भोक्ता होना खण्डित होता है और अपने किये कर्मों के फल में सुखादि का होना उसके भोक्तृत्व भाव को सिद्ध करता है अतः आत्मा भोक्ता है। जैनदर्शन में आत्मा के भोक्तृत्व भाव को इस रूप में भी व्यक्त किया गया है—

“ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकमप्फलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ।।” (द्र. स.—9)

अर्थात् आत्मा व्यवहार से सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मों को भोगता है और निश्चयनय से आत्मा चेतन स्वभाव को भोगता है।

1.8.8 आत्मा का संसारी स्वरूप

जैनदर्शन आत्मा के संसारी स्वरूप को भी स्वीकार करता है। उसके अनुसार संसारी आत्मा ही मुक्तावस्था को प्राप्त करता है। अनादि कर्मों से बद्ध होने के कारण संसारी जीव अशुद्ध है। वह पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों को नष्ट कर शुद्ध होता है। यदि जीव पहले कर्मयुक्त न होता तो उसकी मुक्ति के उपाय की खोज भी व्यर्थ है। जैनदर्शन व्यवहार से ही आत्मा को संसारी कहता है। शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध हो। द्रव्यसंग्रह में कहा गया है—

“मग्गण गुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया ।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ।।” (गाथा—13)

अर्थात् संसारी जीव अशुद्ध नय से चौदह मार्गणा स्थानों से तथा चौदह गुण स्थानों से चौदह प्रकार के होते हो और शुद्ध नय से सब संसारी जीव शुद्ध हो।

1.8.9 जीव का सिद्ध (मुक्त) स्वरूप

जब तक यह जीव राग-द्वेषादिक विषय विकारों से ग्रसित रहता है, तब तक वह संसारी रहता है और जब सकल कर्मों से अपने को मुक्त कर लेता है तो वह सिद्ध कहलाता है। कर्मों का क्षय होने से सिद्धों में आठ गुण प्रकट होते हो। जैसे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है, जिससे सिद्ध आत्मा सर्वज्ञ हो जाती है। दर्शनावरणीय कर्म का क्षय होने से अनंत केवल दर्शन प्रकट होता है। वेदनीय कर्म का क्षय होने से निराबाध

गुण असंवेदन प्रकट होता है। मोहनीय कर्म नष्ट होने से आत्मरमण होता है। आयुष्य कर्म क्षीण होने से सर्वदा के लिए अजर अमर हो जाते हो, नामकर्म का नाश होने से अमूर्तिक गुण प्रकट होते हो। गोत्र कर्म क्षीण होने से सब उपलक्षणों से रहित हो जाते हो। अन्तराय कर्म क्षीण होने से क्षायिक लब्धि प्राप्त होती है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा अपने पुरुषार्थ के द्वारा मुक्त होकर अशरीरी, अष्टकर्मों से रहित एवं अनंत सुख से युक्त परम अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

1.8.10 आत्मा का ऊर्ध्वगामित्व स्वरूप

जैनदर्शन में जीव को ऊर्ध्वगति स्वभावी कहा गया है। जैसे दीपक की निर्वात (हवा रहित) शिखा स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है, वैसे ही शुद्ध दशा में जीव भी ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाले होते हो। वायु से प्रकम्पित दीपक की लौ की तरह अशुद्ध दशा में आत्मा कर्मों से प्रेरित होकर चार गतियों में इधर-ऊधर भ्रमण करते हो, किंतु शुद्ध दशा में अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के द्वारा लोक के अग्रभाग में स्थिर हो जाते हो। उसके आगे धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण गति नहीं कर पाते। जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का चित्रण करते हुए द्रव्य संग्रह में कहा गया है—

“णिककम्मा अड्डगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।

लोयगगठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुता।।” (गाथा-14)

अर्थात् आत्मा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित, सम्यक्त्व आदि गुणों की धारक तथा अंतिम शरीर से 1/3 भाग कम सिद्ध रूप है। वह ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में स्थित, नित्य है तथा उत्पाद, व्यय से युक्त है।

1.8.11 परिणामीनित्यत्व स्वरूप

जैनदर्शन आत्मा को परिणामी नित्य स्वीकार करता है। भगवान् महावीर ने तत्त्व का प्रतिपादन परिणामी नित्यवाद के आधार पर किया। महावीर से पूछा गया—आत्मा नित्य है या अनित्य? उन्होंने कहा—अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता, इस अपेक्षा से नित्य और परिणमन का क्रम कभी अवरुद्ध नहीं होता, इस अपेक्षा से अनित्य है। समग्रता की भाषा में वह न नित्य है, न अनित्य है किंतु परिणामी नित्य अर्थात् नित्यानित्य है।

वेदान्त ने ब्रह्मात्मा को एकान्त नित्य माना है किंतु जीवात्मा के विषय में अलग-अलग मन्तव्य है। शंकराचार्य को छोड़कर लगभग सभी वेदान्ती दार्शनिकों ने ब्रह्म का विवर्त न मानकर जीवात्मा को परिणामी नित्य माना है। मीमांसक भी जैन की भांति आत्मा को परिणामी नित्य मानता है। सांख्य और योग आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हो। वे किसी भी प्रकार का परिणमन या विकार स्वीकार नहीं करते। वे संसार और मोक्ष को आत्मा के नहीं, बल्कि प्रकृति के मानते हो। उनके मत से सुख, दुःख, प्रकृति के धर्म हो, आत्मा के नहीं अतः सांख्य-योग आत्मा को सर्वथा परिणामी मानते हो। न्याय-वैशेषिक आत्मा को नित्य मानते हो। आत्मतत्त्व की दो स्थितियां जैनदर्शन में सर्वदा मान्य रही हो। वे हो उसका विशुद्ध और पुद्गल संयुक्त स्वरूप जिन्हें क्रमशः सिद्ध और संसारस्थ भी कहा जाता है।

1.8.12 स्व—पर प्रकाशक स्वरूप

जैन दार्शनिक आत्मा को स्व—पर प्रकाशक मानते हो। इस विषय में इनका कहना है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान स्व—पर प्रकाशक है इसलिए आत्मा भी स्व—पर प्रकाशक है। इस दर्शन में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य या दीपक अपने आपको प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं तथा पर पदार्थों को प्रकाशित करता है। आचार्य कुन्कुन्द प्रथम जैनाचार्य हो जिन्होंने नियमसार में ज्ञान को सर्वप्रथम स्व—पर प्रकाशक मानकर इस चर्चा का जैनदर्शन में सूत्रपात किया और कालान्तर के आचार्यों ने एक स्वर से इनके मन्तव्य को स्वीकार किया।

1.8.13 प्रभु स्वरूप

पंचास्तिकाय ग्रंथ में आचार्य कुन्दकुन्द ने उल्लेख किया है कि आत्मा प्रभु एवं स्वयंभू है। वह किसी के वश में नहीं है। प्रत्येक आत्मा अपने शरीर का स्वामी स्वयं है। दूसरे शब्दों में हर जीव अपने शुभ—अशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी है। जीव अच्छे कर्म करके अपना पूर्ण विकास करता हुआ अनन्त चतुष्टय को प्राप्त कर सकता है अथवा बुरे कर्मों को करके अधोगामी भी बन सकता है। अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय की टीका में कहा है—“आत्मा निश्चयनय की अपेक्षा से द्रव्य कर्म, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षप्राप्त करने में स्वयं समर्थ होने से प्रभु है। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा ईश्वर की प्रेरणा से शुभ—अशुभ कर्म नहीं करती है और ईश्वर का उसके बंधन और मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह अपना मालिक स्वयं है।

1.8.14 आत्म—बहुत्व स्वरूप

न्याय—वैशेषिक, सांख्य—योग और मीमांसा दर्शनों की भांति जैनदर्शन में भी अनेक आत्माओं की कल्पना की गयी है। उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र में उल्लिखित सूत्र ‘जीवाश्च’ (5/3) आत्मा की बहुलता को सिद्ध करता है। अकलंक ने जीव को अनेक स्वरूप मानते हुए लिखा है—“गति आदि चौदह मार्गणा, मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों के भेद से आत्मा अनेक पर्यायों को धारण करने के कारण एक नहीं अनेक है।” इस प्रकार तत्त्वार्थवार्तिक में मुक्त जीव को भी अनेक माना गया है। जैन दार्शनिक अपरिमित एवं असीम आत्माओं को मानकर प्रत्येक शरीर में भिन्न—भिन्न आत्मा मानते हो। जैनदर्शन के अनुसार एक शरीर में एक से अधिक आत्माएं रह सकती हो।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि आत्मा स्वयं कर्ता, भोक्ता एवं स्वामी है। वह अमूर्त है। वह एक नहीं अनेक हैं। वह स्वयंभू है। वह परिणामी नित्य है। चेतना उसका मुख्य स्वरूप है। वह ज्ञानरूप है। वह स्व—पर प्रकाशी है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या हम आगमों एवं अन्य ग्रंथों में कहे गये तथ्यों के आधार पर ही यह सहज ही स्वीकार कर लें कि जिस आत्मा में ये लक्षण मिलते हो उसका अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। कहा गया है—“श्रुत्यैव सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्” अर्थात् श्रुति की सहायता के लिए तर्क का अभ्युदय हुआ है अर्थात् श्रुति (मूल ग्रंथों) की बातों को भी तर्क की कसौटी पर कसकर ही

स्वीकार किया जाना चाहिए। हम किसी बात को इस आधार पर न मान लें कि यह एक महान् आदमी का कथन है। स्वर्णकार के लिए खरे सोने की कसौटी अग्नि ही है अतः यह आवश्यक है कि उपर्युक्त विवेचनों के आधार पर ही हम आत्मा को स्वीकार न कर लें अपितु तर्क की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार करें। दर्शनशास्त्र की यही मान्यता भी है।

बोध प्रश्न

आत्मा स्व-पर प्रकाशक कैसे है?

1.8.15 जीवसिद्धि

विविध भारतीय दर्शनों में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण दिये गये हो। जैनदर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। यहां भी जीव की सिद्धि के लिए अनेक प्रबल एवं अकाट्य प्रमाण दिये गये हो। आगमों में जीव की सिद्धि के लिए स्वतंत्र रूप से तर्कों की प्रस्तुति दृष्टिगोचर नहीं होती है किंतु वहां आत्मा के स्वरूप पर जो प्रकाश डाला गया है उसी से तर्क भी निष्पन्न होते हो। आचारांग सूत्र में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हो जिसमें उद्देश्य तो आत्मा का स्वरूप बतलाना है किंतु उसी स्वरूप से आत्मा का अस्तित्व भी सिद्ध होता है। उदाहरण स्वरूप आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में कहा गया है—“जो भवान्तर में दिशा—विदिशा में घूमता रहा, वह मो हूँ”। यहां मो से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। दिगम्बर आम्नाय के षट्खंडागम में भी आत्मा का विवेचन तो हुआ है किंतु यहां भी स्वतंत्र तर्कों का अभाव—सा है। कुन्दकुन्द एवं उमास्वाति आदि ने विभिन्न दृष्टियों से आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डाले हो किंतु उन्होंने भी जीव सिद्धि के लिए स्वतंत्र तर्क नहीं दिये हो। आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन से तर्कयुग का प्रारंभ होता है। पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द, हरिभद्र, जिनभद्रगणि, प्रभाचन्द्र, मल्लिषेण आदि जैनाचार्यों ने जीवसिद्धि को प्रधानता देकर विभिन्न तर्कों से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में, अकलंक ने तत्त्वार्थ वार्तिक में, आचार्य जिनभद्रगणि ने विशेषावश्यक भाष्य में, हरिभद्र ने शास्त्रवार्तासमुच्चय में, आचार्य विद्यानन्द ने सत्यशासन परीक्षा में, आचार्य प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र में, मल्लिषेण ने स्याद्वाद मंजरी में आत्मा की सिद्धि के लिए अनेक तर्क दिये हो। विभिन्न आचार्यों द्वारा आत्मा की सिद्धि में दिये गये कुछ प्रमुख तर्कों को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

1.8.15.1 स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से

अपने अनुभव से आत्मा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध होता है। ‘मो हूँ’, ‘मो सुखी हूँ’, ‘मो दुःखी हूँ’—यह अनुभव किसी शरीर को नहीं होता है। यह अनुभव जिसे होता है, वही आत्मा है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार आत्मा के द्वारा आत्मा को जानना अनुभव सिद्ध है और यह आत्मा का स्वभाव है। इस प्रकार मो विषयक प्रत्यक्ष अनुभव से स्वयंज्योति स्वरूप आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। आचार्य शंकर का भी मानना है कि—‘सर्वोप्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति’ अर्थात् सबको यह विश्वास होता है कि ‘मो हूँ’। यह विश्वास किसी को नहीं होता कि ‘मो नहीं हूँ’।

1.8.15.2 उपादान कारण से

इस तार्किक नियम के अनुसार जिस वस्तु का जैसा उपादान कारण होता है, वह उसी रूप में परिणत होता है। अचेतन के उपादान चेतन में नहीं बदल सकते। आचार्य प्रभाचन्द्र के अनुसार जैसे घट आदि कार्य हो तो उनका कोई न कोई उपादान कारण अवश्य होता है और उसका उपादान कारण मिट्टी है, उसी प्रकार ज्ञान, सुख आदि भी कार्य हो, उनका भी कोई उपादान कारण होना चाहिए। इनका उपादान कोई अचेतन तत्त्व नहीं हो सकता अतः इनका उपादान कारण जो है वही आत्मा है। गुणरत्नसूरि द्वारा रचित षड्दर्शन समुच्चय की गुणरत्न टीका में भी यह तर्क उपलब्ध होता है।

1.8.15.3 सत्-प्रतिपक्ष के रूप में

जिसके प्रतिपक्ष का अस्तित्व नहीं है, उसके अस्तित्व को तार्किक समर्थन नहीं मिल सकता। कर्तव्य का महत्व अकर्तव्य से, भेद का महत्व अभेद से, उचित का महत्व अनुचित से है। प्रत्येक का अपना प्रतिपक्षी होता है। तर्कशास्त्र का भी यह नियम है कि हरेक का अपना प्रतिपक्ष है। यदि चेतन नामक सत्ता नहीं होती तो 'न चेतन अचेतन' से इस अचेतन सत्ता का नामकरण कैसे होता? आचार्य गुणरत्नसूरि का मानना है कि जिस प्रकार अघट से घट का अस्तित्व सिद्ध होता है और अजीव से जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है। उसी प्रकार अजीव के प्रतिपक्षी के रूप में जीव के अस्तित्व के बारे में कोई शंका संभव नहीं है।

1.8.15.4 शरीर के अधिष्ठाता के रूप में

आचार्य मल्लिषेण सूरि ने शरीर के अधिष्ठाता के रूप में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए कहा है कि जितनी विशेष क्रियाएं होती हो, वे प्रयत्न पूर्वक होती हो। उदाहरणार्थ रथ के चलने की क्रिया सारथी के विशेष प्रयत्न से जैसे होती है, वैसे ही शरीर के संचालन की क्रिया जिसके प्रयत्न से होती है, वही आत्मा है। स्याद्वादमंजरी में इसी तर्क की पुष्टि में उन्होंने कहा है—“जिस प्रकार वायु की सहायता से चमड़े की धोकनी को फूंकने वाला कोई व्यक्ति होता है उसी प्रकार श्वासोच्छ्वास रूप वायु से शरीर रूपी धोकनी को फूंकने वाला भी कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए और वह चेतन सत्ता है आत्मा। आचार्य प्रभाचन्द्र के अनुसार जीवित शरीर किसी भी प्रेरणा से संचालित होता है और जिसकी प्रेरणा से यह संचालित होता है, वह आत्मा ही है।

1.8.15.5 संकलनात्मक ज्ञान से

प्रत्येक इन्द्रिय के अपने-अपने निश्चित विषय है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को नहीं जान सकती। सब इन्द्रियों के विषयों का संकलनात्मक ज्ञान किसी विशेष इन्द्रिय को संभव नहीं है। यह संकलनात्मक ज्ञान जिसे होता है, वह आत्मा है। जैसे ककड़ी को चबाते समय उसके स्पर्श, रूप, रस, गंध एवं शब्द का ज्ञान किसी विशेष इन्द्रिय को न होकर आत्मा को ही होता है अतः आचार्य अकलंक एवं मल्लिषेण सूरि ने इन्द्रियों के विषयों के संकलनात्मक ज्ञान द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है।

1.8.15.6 संशय से

आचार्य अकलंक के अनुसार संशय द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध है। उनका मानना है कि संशय कभी अनस्तित्व का नहीं होता है वह सदैव अस्तित्व का होता है। बंध्यापुत्र, शशश्रृंग आदि असत् पदार्थों में कभी संशय नहीं होता है। वे तो स्पष्ट रूप से कहते हो कि जिसका अस्तित्व नहीं है उसके विषय में संशय होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। आचार्य जिनभद्रगणी के अनुसार संशयकर्त्ता सदैव चेतन ही होता है अतः संशय करने वाले के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

1.8.15.7 श्वासोच्छ्वास कार्य से

पूज्यपादाचार्य ने सर्वार्थसिद्धि में आत्मा की सत्ता को सिद्ध करते हुए कहा है कि श्वासोच्छ्वास रूप कार्य से क्रियावान् आत्मा का अस्तित्व उसी प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। जैसे यंत्रमूर्ति के हिलने-डुलने की क्रिया से उसके बनाने वाले का अस्तित्व सिद्ध होता है। उनके अनुसार श्वासोच्छ्वास रूपी क्रियाएं होती हो तो इनका कोई न कोई कारण होना चाहिए। इनका कारण न रूप है, न संज्ञा है, न संस्कार है, न वेदना है, न विज्ञान है अतः श्वासोच्छ्वास रूप कार्य का जो कर्त्ता है, वह आत्मा ही है।

1.8.15.8 सकलप्रत्यक्ष से

इन्द्रिय प्रत्यक्ष से आत्मा का प्रत्यक्ष न होने से उसका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष जैनदर्शन में मूलतः परोक्ष माना गया है। आचार्य अकलंक के अनुसार इन्द्रिय निरपेक्ष आत्मजन्य केवलज्ञान रूप सकल प्रत्यक्ष से ही शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष होता है।

1.8.15.9 गुणों के आधार पर

यहां गुणों के आधार पर गुणी के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। जिनभद्रगणी के अनुसार जैसे घट के गुण रूपादि के प्रत्यक्ष अनुभव होने से घट का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मा के गुण ज्ञानादि का प्रत्यक्ष अनुभव होने से आत्मा का भी अस्तित्व मानना चाहिए। अमृतचन्द्र सूरि, मल्लिषेण सूरि, गुणरत्न सूरि आदि आचार्यों ने ज्ञान को आत्मा का असाधारण गुण मानकर गुणी के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध की है।

1.8.15.10 गौण कल्पना से

आचार्य विद्यानन्द ने आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए यह तर्क दिया है कि चित्र देखकर जैसे एक व्यक्ति कहता है कि यह सजीव चित्र है जबकि चित्र अजीव है लेकिन उसमें जीव की गौण कल्पना की गयी है। यदि जीव का अस्तित्व न होता तो यह चित्र सजीव है, ऐसा कथन नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा कथन किया जाता है तो इससे यह सिद्ध होता है कि सजीव अर्थात् आत्मा का अस्तित्व है।

1.8.15.11 स्मृति से

इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा ज्ञात विषयों की स्मृति रहती है। जैसे आंख से कोई वस्तु देखी, कान से सुनी, संयोगवश आंख फूट गयी और कान का पर्दा फट

गया फिर भी पूर्व में देखे और सुने गये की स्मृति रहेगी। इसका मूल कारण क्या है? संकलनात्मक ज्ञान और स्मृति—ये मन के कार्य हैं। आत्मा के अभाव में इन्द्रिय और मन निष्क्रिय हो जाते हैं अतः ज्ञान का मूल स्रोत आत्मा है।

1.8.15.12 ग्राहक रूप से

ज्ञेय, इन्द्रिय और आत्मा—ये तीनों भिन्न हो। इन्द्रियां ग्रहण करने के साधन हो और पदार्थ ग्राह्य हैं तो इनका ग्राहक भी कोई होना चाहिए। जिनभद्रगणी के अनुसार जैसे संडासी और लोहे में आदान—आदेय सम्बन्ध है और उसको ग्रहण करने वाला लुहार होता है, वैसे ही इन्द्रिय और विषय में आदान—आदेय सम्बन्ध होने से उसके ग्राहक के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

1.8.15.13 विशेष गुण से

किसी भी वस्तु का अस्तित्व उसके विशेष गुण द्वारा सिद्ध होता है। स्वतंत्र पदार्थ वही है जिसमें ऐसा त्रैकालिक गुण हो जो अन्य किसी भी पदार्थ में न हो। आत्मा में चैतन्य नामक विशेष गुण है। वह दूसरे किसी भी पदार्थ में व्याप्त नहीं है अतः आत्मा का दूसरे सभी पदार्थों से स्वतंत्र अस्तित्व है।

1.8.15.14 परलोकी के रूप में

परलोक गमनकर्त्ता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए आचार्य विद्यानन्द ने सत्यशासन परीक्षा में कहा है कि मृत्यु के बाद शरीर यहीं जला दिया जाता है। पुण्य—पाप के प्रभाव से परलोक जाने वाला ऐसा तत्त्व अवश्य है जो परलोक जाता है। अन्यथा संसार और मोक्ष की व्यवस्था ही नष्ट हो जायेगी अतः यह सिद्ध है कि जो तत्त्व परलोक जाता है, वही मूलतः आत्मा है।

1.8.15.15 कर्त्ता के रूप में

आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी में रूपादि गुणों के कर्त्ता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि रूप आदि गुणों की उपलब्धि कर्त्तापूर्वक ही संभव है क्योंकि 'उपलब्धि होना' क्रिया है। जो क्रिया होती है, उसका कोई न कोई कर्त्ता अवश्य होता है। जैसे काटने की क्रिया का कोई कर्त्ता अवश्य होता है, उसी प्रकार देखने, पढ़ने आदि क्रिया का भी कर्त्ता अवश्य है। इसी प्रकार जानने और सोचने की क्रिया का कर्त्ता जो है, वही आत्मा है। पाश्चात्य दार्शनिक रेने डेकार्ट ने भी इसी प्रकार सोचने की क्रिया से सोचने वाले के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करते हुए कहा था कि, 'मो सोचता हू इसलिए मो हूँ।'

जीवन के लक्षण, स्वरूप एवं सिद्धि के बाद अब जीव के भेद—प्रभेद पर प्रकाश डालने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

1.8.16. जीव के प्रकार

जैन दार्शनिकों ने जीव के भेद अनेक दृष्टियों से किये हो। जीव के वर्गीकरण की जितनी विभिन्नता यहां मिलती है, उतनी अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती हो अतः विविध दृष्टियों से जीव के विविध प्रकार का विवेचन नीचे किया जा रहा है—

1.8.16.1 जीव का एक प्रकार

जीव एक तत्त्व है। वह अपने गुण और पर्यायों से संपन्न है। इसका अस्तित्व त्रैकालिक है। जीव तत्त्व की शक्ति चेतना शक्ति है। चेतना गुण की अपेक्षा से जीव का एक भेद है। चेतना गुण जीव का असाधारण धर्म है। जीव मात्र का यह लक्षण है। संग्रहनय की दृष्टि से जिसमें चेतना है, वही जीव है।

1.8.16.2 जीव के दो प्रकार

आचार्य उमास्वाती ने तत्त्वार्थ सूत्र में आत्मा के दो भेद करते हुए लिखा है—“संसारिणो मुक्ताश्च” (2/10) अर्थात् संसारी और मुक्त दो जीव हो। संसारी आत्मा वह है जो बार-बार जन्म और मरण करता है। इसका पूर्वजन्म और पुनर्जन्म होता रहता है। इस वर्ग के जीव अनादि काल से संसारी हो और तब तक संसारी रहेंगे जब तक समस्त कर्मों को क्षय करके मुक्त नहीं बन जायेंगे। नेमिचन्द्राचार्य के अनुसार—“जिस प्रकार कावड़ के द्वारा बोझा ढोया जाता है, उसी प्रकार शरीर रूपी कावड़ के द्वारा संसारी आत्मा अनेक कष्टों को सहती हुई कर्म रूपी भार को विभिन्न गतियों में ढोती हुई भ्रमण करती रहती है।” संसारी आत्माएं सशरीरी होती हैं और ये नित्य नवीन कर्मों में बंधकर फल भोगती रहती हो।

मुक्त आत्मा, आत्मा की शुद्धतम अवस्था है। अनादिकाल से आत्मा के साथ चिपके हुए कर्म पुद्गल जब आत्मा से सदा सर्वदा के लिए अलग हो जाते हो तो वही आत्मा मुक्त कहलाती है। वहां केवल आत्मा की ज्ञान-दर्शनमयी सत्ता का अस्तित्व है। इसके अनेक नाम मिलते हो, यथा—सिद्ध, ईश्वर, परमात्मा, मुक्तात्मा, परमेश्वर।

1.8. संसारी जीव के दो-दो प्रकार

विभिन्न दृष्टियों से संसारी जीवों के निम्नलिखित दो-दो प्रकार हो—

1. व्यवहार राशि 2. अव्यवहार राशि

1. भव्य 2. अभव्य

1. त्रस 2. स्थावर

1. सूक्ष्म 2. बादर

1. पर्याप्त 2. अपर्याप्त

1. व्यवहार राशि और अव्यवहार राशि

व्यवहार से तात्पर्य है—भेद—विभाग अर्थात् जो जीव अनेक भेदों में विभक्त है, वे व्यवहार राशि के जीव हो। व्यवहार शब्द का दूसरा अर्थ है उपयोग अर्थात् जो जीव हमारे उपयोग में आते हो वे व्यवहार राशि के जीव हो। एकेन्द्रिय से लेकर अनिन्द्रिय (केवल ज्ञानी) तक सभी जीव इसके अंतर्गत आते हो। व्यवहार राशि में संसारी और मुक्त सभी जीव हो।

व्यवहार राशि के जीवों की संख्या अनन्त है, पर वे अव्यवहार राशि के जीवों के अनन्तवें भाग में भी नहीं आते हो।

अव्यवहार राशि जीवों का अक्षयकोष है। इन जीवों का हमारे लिए कोई उपयोग नहीं है। इस जीव वर्ग में केवल वनस्पति के जीव हो, वे भी साधारण वनस्पति के। साधारण वनस्पति अर्थात् एक शरीर में अनन्त जीव। इसे निगोद भी कहते हो। अव्यवहार राशि के सब जीव समान हो। इनकी अवगाहना, स्थिति, आहार, उच्छ्वास, निःश्वास आदि में कोई अन्तर नहीं है। इस वर्ग के कुछ जीव काललब्धि के योग यानि समय के परिपाक के साथ से व्यवहार राशि में संक्रान्त होते हो। अव्यवहार राशि से जीव व्यवहार राशि में आते हो किन्तु व्यवहार राशि से जीव अव्यवहार राशि में नहीं जाते। व्यवहार राशि से जितने जीव मुक्त होते हो, उसकी क्षतिपूर्ति अव्यवहार राशि से होती रहती है, इसी आधार पर यह कहा जाता है कि संसार कभी जीवशून्य नहीं होगा।

2. भव्य—अभव्य जीव

भव्यता से तात्पर्य मोक्ष गमन की योग्यता और अभव्यता से तात्पर्य मोक्ष गमन की अयोग्यता से है। चेतना का गुण सभी प्राणियों में है, जो इसका सम्पूर्ण विकास कर लेने की क्षमता रखता है, वह भव्य है और जिनमें ऐसी क्षमता नहीं होती है, वे अभव्य हो। किसी भी प्रयत्न या पुरुषार्थ से अभव्य को भव्य नहीं बनाया जा सकता।

एक प्रश्न है कि अभव्य जीव भव्य नहीं बन सकते और भव्य जीव मोक्ष जाते रहते हो। इस स्थिति में एक ऐसा समय भी आ सकता है जबकि सारे भव्य जीव मुक्त हो जाएं। अगर ऐसा हुआ तो मोक्ष का द्वार बन्द हो जायेगा। जैनदर्शन के अनुसार जितने भव्य हो सभी मुक्त हो जायेंगे, यह संभव नहीं है क्योंकि जिन भव्य जीवों को वैसी सामग्री उपलब्ध नहीं होगी, वे अपनी योग्यता का उपयोग नहीं कर पायेंगे। पत्थर में प्रतिमा बनने की योग्यता है पर क्या सब पत्थर प्रतिमा बनते हो? ऐसा ही भव्य जीवों की मुक्ति के संदर्भ में समझना चाहिए।

3. त्रस—स्थावर

त्रस अर्थात् जो गमनागमन करने में सक्षम हैं, हलन चलन कर सकते हैं, वे त्रस जीव हो। आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में—“जो जीव सुख पाने के लिए और दुःख से निवृत्त होने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान में गमनागमन कर सकते हो, वे त्रस हो।” जो स्थिर हो अर्थात् जिस आत्मा में गमन करने की शक्ति का अभाव होता है, उसे स्थावर आत्मा कहते हो। अर्थात् जिन जीवों में सलक्ष्य गमनागमन की क्षमता नहीं होती, वे स्थावर कहलाते हो। दो, तीन, चार, पांच इन्द्रिय वाले जीव त्रस हो और एक इन्द्रिय वाले जीव—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव स्थावर हो। त्रस और स्थावर वर्ग में संसार के सभी प्राणियों का समावेश हो जाता है।

4. सूक्ष्म—बादर

बादर का अर्थ स्थूल है। इसमें एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर पांच इन्द्रिय वाले जीवों तक सभी जीव आ जाते हो। एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म और बादर दोनों प्रकार के होते हो। पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि स्थावर जीवों के जो शरीर दृश्य हो, वे बादर हो और जो आंखों के विषय नहीं हो, वे सूक्ष्म हो। ऐसे सूक्ष्म जीव समूचे लोक में व्याप्त हो। सूक्ष्म जीव समग्रलोक में रहते हो और बादर जीव लोक के एक भाग में रहते हो।

5. पर्याप्त-अपर्याप्त

समान्यतः पर्याप्त का अर्थ पूर्ण और अपर्याप्त का अर्थ अपूर्ण होता है किंतु यहां इन दोनों शब्दों का विशेष अर्थ है। इन शब्दों का सम्बन्ध पर्याप्तियों से है। **‘भवारम्भे पौद्गलिकसामर्थ्यनिर्माणं पर्याप्तिः’** अर्थात् जन्म के प्रारंभ में जीवन यापन के लिए आवश्यक पौद्गलिक शक्ति के निर्माण का नाम पर्याप्ति है। पर्याप्ति छः हो—आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मन पर्याप्ति। प्रत्येक जीव प्रारंभ में अपर्याप्त होता है। जिस जन्म में जितनी पर्याप्तियां प्राप्त करनी हो, उन्हें पूरा कर लेने के बाद जीव पर्याप्त बनता है। अपर्याप्त अवस्था का कालमान बहुत कम होता है। पर्याप्त हो जाने के बाद जीवन भर वही स्थिति रहती है। अपर्याप्त अवस्था में मृत्यु को प्राप्त होने वाले जीवों को छोड़कर पृथ्वी, पानी आदि सूक्ष्म जीवों से लेकर मनुष्य और देवों तक सभी जीव पहले अपर्याप्त और कालान्तर में पर्याप्त होते हो। केवल सम्मूर्च्छिम मनुष्य की योनि में उत्पन्न होने वाले जीव अपर्याप्त ही होते हो। पर्याप्तियों के निर्माण में बहुत कम समय लगता है। लगभग एक मुहूर्त के भीतर सब पर्याप्तियों का निर्माण हो जाता है। एक इन्द्रिय वाले जीवों के चार पर्याप्तियां होती हो। दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीवों के पांच पर्याप्तियां होती हो। देवों के मन और भाषा में कोई भेद नहीं रहता, इस दृष्टि से इनमें पांच पर्याप्तियां ही मानी गयी है। पांच इन्द्रिय वाले तिर्यच, मनुष्य और नारक जीवों के छः पर्याप्तियां होती हो।

1.8.16.4 जीव के तीन प्रकार

जीव के तीन प्रकारों के तीन वर्ग देखे जा सकते हो—1. स्त्री-पुरुष-नपुंसक 2. संयमी-असंयमी-संयमासंयमी

3. संज्ञी-असंज्ञी-नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी

प्रथम वर्ग के प्रकार हो—स्त्री, पुरुष और नपुंसक। जीवत्व की दृष्टि से ये सभी जीव हो। इनके प्रकार लिंगभेद के आधार पर हो। एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीवों तक सब जीव नपुंसक होते हो। पंचेन्द्रिय में नरक के जीव, समूर्च्छिम मनुष्य एवं सम्मूर्च्छिम तिर्यच नपुंसक होते हो। गर्भज मनुष्य एवं गर्भज तिर्यच स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक तीनों प्रकार के होते हो। देवों के स्त्री और पुरुष—ये दो ही प्रकार हो। वे नपुंसक नहीं होते।

दूसरे वर्ग के प्रकार हो—संयमी, असंयमी और संयमासंयमी। ये भेद साधना के आधार पर हो। जो प्राणी महाव्रतों की साधना करते हो, वे संयमी कहलाते हो। पूर्ण संयम की साधना करने वाले केवल मनुष्य ही होते हो। जो प्राणी व्रतों की साधना नहीं करते हो, वे असंयमी कहलाते हो। संयमासंयमी दोनों के बीच की अवस्था है। इसमें न एकान्ततः संयम

होता है और न ही एकान्ततः असंयम होता है। इन प्राणियों में मनुष्य और तिर्यच दोनों हो सकते हो।

तीसरे वर्ग के प्रकार हो—संज्ञी, असंज्ञी, नोसंज्ञी—नोअसंज्ञी। संज्ञी का अर्थ है—समनस्क। समनस्क जीवों को पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त मानसिक संवेदन की क्षमता भी प्राप्त होती है। इसमें केवल पंचेन्द्रिय जीव आते हो। जो जीव संज्ञा (मानसिक संवेदन) से शून्य होते हो, वे असंज्ञी कहलाते हो। एकेन्द्रिय से लेकर समूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तक के जीव इस विभाग में आ जाते हो। जो जीव इन्द्रिय और मन के संवेदन से ऊपर उठ जाते हो, जिन्हें संवेदन की कोई अपेक्षा नहीं रहती, वे नोसंज्ञी—नोअसंज्ञी कहलाते हो। ये केवली होते हो।

1.8.16.5 जीव के चार प्रकार

गति के आधार पर जीव के चार भेद किये गये हो। गति से तात्पर्य है—एक जन्म स्थिति से दूसरी जन्म स्थिति को प्राप्त करने के लिए होने वाली जीव की यात्रा। उस यात्रा के ये चार पड़ाव या ठहराव हो—नारक, तिर्यच, मनुष्य, देव। इस दृष्टि से इन्हें चार गति के नाम से भी जाना जाता है।

नारक जीव

नरक गति में रहने वाले जीव को नारक कहते हो। नारक जीवों के आवास स्थल रत्नप्रभा, शर्करा प्रभा, बालुका प्रभा, पंक प्रभा, धूम प्रभा, तम प्रभा, महातम प्रभा—ये सात भूमियां एक के बाद एक नीचे—नीचे हो। रत्नप्रभा के उपर मनुष्य लोक है। नारकी जीवों को अत्यधिक दुःखों को सहना पड़ता है। इन नरक भूमियों में उन जीवों को जाना पड़ता है, जो अत्यन्त क्रूर कर्म और बुरे विचारों वाले होते हो।

तिर्यच जीव

इस गति में रहने वाले जीव संख्या में सबसे अधिक हैं। एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीवों तक सभी जीव निश्चित रूप से तिर्यच ही होते हो। इनमें पृथ्वी, अग्नि, पानी, वनस्पति, वायु, कृमि, चींटी, मक्खी, मच्छर आदि अनेक जीव हो। कुछ पंचेन्द्रिय जीव जैसे पशु—पक्षी भी तिर्यच होते हो। इनमें जलचर मछली कच्छप आदि स्थलचर गाय, भोस, बकरी, भेड़ आदि और खेचर, पक्षी आदि तिर्यच हो। तिर्यच गति को अप्रशस्त गति माना गया है क्योंकि उनका विवेक जागृत नहीं होता है।

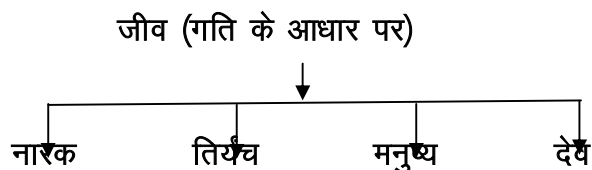
मनुष्य जीव

मनुष्य तीन प्रकार के होते हो—कर्म भूमिज, अकर्म भूमिज और समूर्च्छिम। कर्मभूमिज मनुष्य कर्म क्षेत्र में उत्पन्न होते हो। वे कृषि, मसि, असि आदि साधनों से अपनी जीविका चलाते हो और अपने पुरुषार्थ का उपयोग करते हो। अकर्म भूमिज मनुष्य 'यौगलिक' कहलाते हो। उनके जीवन यापन के साधन कल्पवृक्ष होते हो। उन्हें कल्पवृक्ष से जो प्राप्त होता है, वे उसी से संतुष्ट हो जाते हो। समूर्च्छिम मनुष्य नाम से तो मनुष्य ही है, पर उनमें मनुष्यता जैसा कुछ भी नहीं है। मानव शरीर से विसृजित मल—मूत्र आदि चौदह स्थानकों में

उन जीवों की उत्पत्ति होती है। वे पांच इन्द्रियों से युक्त होते हो, पर मानसिक संवेदन से रहित होते हो। मनुष्य गति प्राप्त करने पर भी वे जीव किसी प्रकार का विकास नहीं कर सकते।

देव जीव

जैनागमों में देवों के चार प्रकार बतलाये गये हो—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। असुरकुमार, नागकुमार आदि भवनपति देवों के आवास नीचे लोक में है। पिशाच, भूत, यक्ष आदि व्यन्तर देव और सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिष्क देव तिरछे लोक में रहते हो। वैमानिक देव ऊंचे लोक में रहते हैं। देवगति का आयुष्य पूरा करने के बाद कोई भी देव तत्काल पुनः देव नहीं बन सकता। इसी प्रकार नारक जीव भी मृत्यु प्राप्त कर तत्काल नरक गति में उत्पन्न नहीं होता। इन दोनों गतियों के जीवों में पारस्परिक संक्रमण भी नहीं होता अर्थात् देव नरक गति में और नारक स्वर्ग में उत्पन्न नहीं होते। मनुष्य और तिर्यच मृत्यु के बाद किसी भी गति में उत्पन्न हो सकते हो। मोक्ष की प्राप्ति केवल मनुष्य गति से ही हो सकती है। गति के आधार पर जीव के भेद को इस प्रकार समझा जा सकता है—



1.8.16.6 जीव के पांच प्रकार

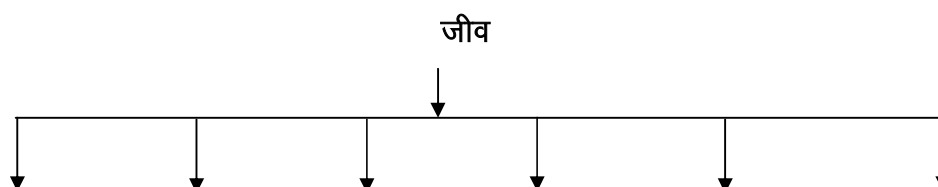
इन्द्रियों के आधार पर जीव के पांच प्रकार किये गये हो। नीचे की तालिका में इन्द्रियों से सम्बन्धित जीवों का विवेचन स्पष्ट है—

1. एकेन्द्रिय जीव—स्पर्शेन्द्रिय मात्र—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति।
2. द्वीन्द्रिय जीव—स्पर्शन और रसन—कृमि, शंख आदि।
3. त्रीन्द्रिय जीव—स्पर्शन, रसन और घ्राण—चींटी, जूं, लीख, खटमल आदि।
4. चतुरिन्द्रिय जीव—स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु—मक्खी, मच्छर, पतंग, भ्रमर आदि।
5. पंचेन्द्रिय जीव—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कान—पशु, पक्षी, नारक, देव, मनुष्य आदि।

उपर्युक्त एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी प्राणी संसारी जीव हो। जीव के इस भेद से संसारी प्राणियों में विकास का जो तारतम्य है, वह स्पष्ट है—

1.8.16.7 जीव के छः प्रकार

जीव के छह प्रकार इस तरह हो—



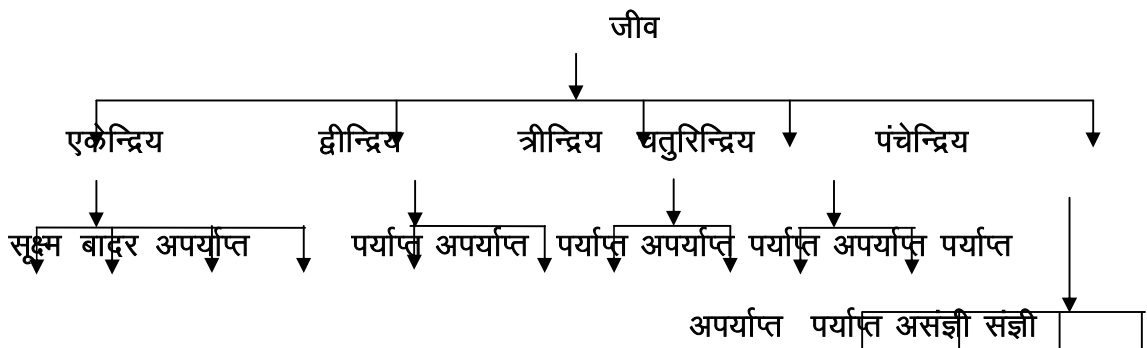
पृथ्वीकायिक अपकायिक तेजस्कायिक वायुकायिक वनस्पतिकायिक त्रसकायिक

जैनागमों में उपर्युक्त छः प्रकारों को षड्जीवनिकाय के रूप में जाना जाता है। काय का अर्थ शरीर है। पृथ्वी जिन जीवों का शरीर है, वे जीव पृथ्वीकायिक हो, जैसे—मिट्टी, मुरड़, कोयला, सोना, चांदी आदि। मिट्टी के एक छोटे से पिण्ड में असंख्य जीव होते हो।

पानी जिन जीवों का शरीर है, वे अपकायिक जीव हो, जैसे पानी, ओले, कुहरा आदि। पानी की एक बूंद में पृथक—पृथक असंख्य जीव होते हैं। जिन जीवों का शरीर अग्नि है, वे जीव तेजस्कायिक कहलाते हो जैसे अंगारे, ज्वाला, उल्का आदि। आग की एक छोटी—सी चिंगारी में अग्नि के असंख्य जीव पाये जाते हो। जिनका शरीर वायु है, वे जीव वायुकायिक कहलाते हो। संसार की सभी वायु इसके अंतर्गत है। वायुकाय में भी पृथक—पृथक असंख्य जीव होते हैं। जिन जीवों का शरीर वनस्पति है, वे जीव वनस्पतिकायिक कहलाते हो। इस काय में रहने वाले जीवों के दो प्रकार हो—प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति के जीव एक—एक शरीर में एक—एक ही होते हो। साधारण वनस्पति में एक—एक शरीर अनन्त जीवों का पिण्ड होता है। सब प्रकार की काई, कन्द, मूल आदि साधारण वनस्पति के जीव हो। सुख प्राप्ति और दुःख निवृत्ति के उद्देश्य से गति करने वाले जीव त्रसकायिक कहलाते हो। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों का समावेश इस वर्ग में होता है। जैनदर्शन में 'षड्जीवनिकाय' की यह जो अवधारणा है, यह अपने आपमें विलक्षण है। अहिंसा की प्रतिष्ठापना की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है।

1.8.जीव के चौदह प्रकार

किसी अपेक्षा से जीव के चौदह भेद भी किये गये हो। इन चौदह भेदों में एकेन्द्रिय जीव के चार भेद और पंचेन्द्रिय जीव के चार भेद किये गये हो और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरन्द्रिय में प्रत्येक के दो—दो भेद हुए हो, इस प्रकार जीव के चौदह भेदों को निम्नांकित चार्ट से समझा जा सकता है।



इस प्रकार यहां यह प्रयास हुआ है कि जीव के संदर्भ में भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों का चिंतन एवं दृष्टिकोण प्रस्तुत कर जैनदर्शन के जीव के स्वरूप एवं लक्षण को स्पष्ट किया जाए। जीव के अस्तित्व की सिद्धि दर्शन का एक महत्वपूर्ण विषय होता है। विभिन्न जैनाचार्यों ने जिन तर्कों के माध्यम से जीव के अस्तित्व की सिद्धि की है। उन्हें भी क्रमबद्ध करके यहां प्रस्तुत किया गया है। जीव के प्रकार के संदर्भ में जैनदर्शन में अनेक

प्रकार के चिंतन देखे जाते हो। उन अनेक प्रकार के चिंतनों को भी यहां अति सरल ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार जीवास्तिकाय के अंतर्गत जीव का सम्यक् विवेचन यहां किया गया है।

बोध प्रश्न

1. जीव का मुख्य लक्षण क्या है?
2. गति की अपेक्षा से जीव के कितने भेद हो?
3. त्रस का क्या अर्थ है?
4. आत्मा जैनदर्शन के अनुसार अकर्त्ता है या कर्त्ता?
5. जैनदर्शन में उपयोग का क्या अर्थ है?

1.9 पुद्गल का स्वरूप, भेद, अवस्थाएं, जीव एवं पुद्गल का सम्बन्ध, परमाणु स्वरूप

इस संसार में जितना सत्य 'मो हूं' है उतना ही सत्य 'मेरा शरीर' भी है। 'मो हूं' से जहां 'जीव' तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है वहीं 'मेरे शरीर' से जड़ तत्त्व का भी अस्तित्व सिद्ध होता है। जब हम संसार पर दृष्टिपात करते हो तो पाते हो कि संसार में बहुत सारी वस्तुएं हो जिनकी हमें प्रतिदिन आवश्यकता पड़ती है। प्रातःकाल उठने से लेकर रात्रि में सोने तक न जाने कितनी वस्तुओं से प्रतिदिन हमारा वास्ता पड़ता है। पलक खुलते ही दांत के मंजन और ब्रश की जरूरत पड़ती है, उसके बाद नाश्ते में ब्रेड और गरम दूध की जरूरत पड़ती है, अध्ययन के लिए पुस्तकों की जरूरत पड़ती है, समय देखने के लिए घड़ी की आवश्यकता होती है, कॉलेज या बाजार जाने के लिए साईकिल या मोटर साईकिल की अपेक्षा होती है। गाने सुनने एवं समाचार जानने के लिए रेडियो, टेलीवीजन, एवं समाचार-पत्र की जरूरत पड़ती है। ठंडे पानी के लिए फ्रिज की एवं ठंडी हवा खाने के लिए कूलर या ए.सी. की जरूरत पड़ती है। अब प्रश्न यह उठता है कि ये दिन-प्रतिदिन की आवश्यकता की वस्तुएं क्या हो और कहां से आती हो? ये सारी वस्तुएं चेतन नहीं हो। ये सबके सब जड़ हो, अचेतन हो। जैन शब्दावली में ये सबके सब पौद्गलिक हो। ये पुद्गल से बने हो। हमारे चारों तरफ पुद्गल है। आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दायें-बाएं सब तरफ पुद्गल है। हमारा शरीर, मन, इन्द्रियां-ये सब पुद्गल की ही देन है। हम सुबह से शाम तक पुद्गलों में रहते हो। पुद्गल के बिना हमारा जीवन चल भी नहीं सकता। पुद्गल संसार की आवश्यकता है। संसार में आना भी पुद्गलों के साथ ही होता है। व्यक्ति अपने जन्म के साथ ही शुभ और अशुभ कर्मों के पुद्गल लेकर आता है और जब इस जीवन से अलग होता है अर्थात् मृत्यु की गोद में सोता है तो भी शुभ और अशुभ कर्मों को लेकर जाता है। जन्म और मृत्यु के मध्य का सारा खेल पुद्गलों का ही है। इस प्रकार जन्म, जीवन, मृत्यु और पुनर्जन्म का यह चक्र पुद्गलों की ही धुरी पर घूमता है।

1.9.1 विभिन्न दर्शनों में पुद्गल

प्रायः सभी दर्शनों में जड़ तत्त्व को स्वीकृति मिली है। चार्वाक जड़तत्त्व के रूप में चार भूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) को, सांख्य-योग प्रकृति को, न्याय-वैशेषिक परमाणु को जड़तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हो। वहां पुद्गल शब्द का उल्लेख नहीं है। बौद्धदर्शन में भी पुद्गल नाम मिलता है। त्रिपिटकों एवं अन्य बौद्ध ग्रंथों में पुद्गल शब्द का प्रयोग चेतन के अर्थ में हुआ है। जैन ग्रंथों में पुद्गल को अचेतन द्रव्य माना गया है। जैन परम्परा में पुद्गल का जिस अर्थ में प्रयोग हुआ है उसी अर्थ में सांख्य दर्शन में 'प्रकृति', न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'परमाणु' और चार्वाक दर्शन में 'भूत' शब्द का प्रयोग हुआ है।

भगवतीसूत्र 8/499 में गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया—भगवन्! जीव पुद्गल है या पुद्गली। भगवान् महावीर ने कहा—“हे गौतम! यथार्थ में पुद्गल चेतन नहीं है और न ही इसका प्रयोग जीव या चेतन तत्त्व के रूप में किया जा सकता है परन्तु संसार अवस्था में जीव पुद्गलों से सम्बद्ध रहता है। जैसे आग में डालने पर लोहे का गोला अग्नि तो नहीं बन जाता, परन्तु आग के गोले जैसा परिलक्षित होता है। अग्नि के परमाणु लोहे के गोले के परमाणुओं के साथ घुलमिल जाते हो उसी प्रकार संसार में पुद्गल भी जीव के साथ मिला हुआ—सा लगता है। इस अपेक्षा से व्यवहारनय से संसार अवस्था में जीव के लिए पुद्गल शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार संसार अवस्था में पुद्गल, जीव से सम्बंधित होने के कारण चेतन है अन्यथा पुद्गल एक जड़, अचेतन एवं भौतिक द्रव्य ही है।

1.9.2 जैनदर्शन में पुद्गल का स्वरूप

पुद्गल शब्द दो शब्दों के संयोग से बना है—पुद्+गल। पुद् का अर्थ होता है—पूरण अर्थात् संयुक्त होना और गल का अर्थ होता है गलन अर्थात् वियुक्त होना। पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जिसमें संश्लेषण (जुड़ने) और विश्लेषण (अलग होने) की क्षमता है। जो द्रव्य स्कन्ध अवस्था में पूरण और स्कन्ध या परमाणु के रूप में गलन को प्राप्त होता है, वह पुद्गल है। जैन सिद्धान्त दीपिका में पुद्गल को परिभाषित करते हुए कहा गया है—“पूरणगलनधर्मत्वात् पुद्गल इति” (1/14) अर्थात् जिसमें पूरण (एकीभाव) और गलन (पृथक्भाव) दोनों होते हो, वह पुद्गल है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुद्गल का एक संकुचन रूप है तो दूसरा विस्तृत रूप में यह फैलते-फैलते महाचित्त स्कन्ध को प्राप्त होता है अर्थात् पुद्गल का पूर्ण शीर्ष महाचित्त स्कन्ध है और गलन के रूप में संकुचित होते-होते यह परमाणु रूप को प्राप्त होता है अर्थात् पुद्गल का गलन शीर्ष परमाणु है।

1.9.3 पुद्गल और गुण

पुद्गल मूर्त द्रव्य है। मूर्त द्रव्य वह होता है जिसमें तो इसमें स्पर्श, रस, गंध, और वर्ण ये गुण होते हैं। इन गुणों के अभाव में पुद्गल की कल्पना संभव नहीं है। ये चारों गुण पुद्गल में अवश्य रहते हो। ऐसा संभव नहीं कि पुद्गल में स्पर्श हो और रस, गंध, वर्ण नहीं हो या रस हो किंतु स्पर्श, गंध, वर्ण नहीं हो या गंध हो किंतु स्पर्श, रस, वर्ण नहीं हो या वर्ण हो किंतु स्पर्श, रस, गंध नहीं हो। निष्कर्ष के रूप में यही कहना होगा—“स्पर्शरसगंधवर्णवान् पुद्गलः”। अर्थात् पुद्गल वह है जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण

हों। इन गुणों के कारण ही पुद्गल रूपी कहलाता है। इन गुणों के कारण ही पुद्गल इन्द्रियों का भी विषय बनता है। बहुत से पुद्गल स्वयं इतने सूक्ष्म होते हो, जिन्हें हम नेत्र से देख नहीं सकते। फिर भी वे रूपी कहलाते हो, क्योंकि ये चारों गुण इनमें होते हो। ये गुण अन्य पांचों द्रव्यों में नहीं हो इसलिए अन्य पांचों द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव, अरूपी होते हो। पुद्गल द्रव्य ही रूपी है, अतः इन्द्रिय ग्राह्य है। यहां इन्द्रिय ग्राह्य से तात्पर्य केवल चक्षुर्ग्राह्य से नहीं है अपितु सभी इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होने से है।

पुद्गल के इन चार गुणों का विस्तार किया जाये तो पुद्गल के बीस गुण हो जाते हो। वे इस प्रकार हो—

1. स्पर्श—शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, मृदु, कर्कश।
2. रस—अम्ल, मधुर, कटु, कषाय, तिक्त।
3. गंध—सुगंध और दुर्गंध।
4. वर्ण—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत।

परिणति के आधार पुद्गल के इन बीस गुणों का उल्लेख उत्तराध्ययन सूत्र (36/16 से 20) में भी मिलता है।

1.9.4 पुद्गल नित्य है

पुद्गल नित्य, शाश्वत द्रव्य है। यह अतीत में, वर्तमान में हैं और भविष्य में भी रहेगा। पुद्गल नियत, शाश्वत, ध्रुव, अक्षय और नित्य हैं। ये सतत् परिणमनशील होते हुए भी नित्य हैं। पुद्गल अनन्त काल से इस विश्व में हो और अनन्तकाल तक रहेंगे। इनका कभी अभाव नहीं होगा। जैनदर्शन के अनुसार जब आत्मा मुक्त हो जाती है तो लोकाग्र में सिद्धशिला में अवस्थित होती है। वह सिद्धशिला भी पुद्गलों से ही निर्मित है। यहां प्रश्न उठता है कि यदि मुक्त आत्मा के चारों ओर पुद्गल हो तो आत्मा पुद्गलों से चिपकती क्यों नहीं है। पुद्गल आत्मा की ओर आकर्षित क्यों नहीं होते हो। आत्मा अपने शुद्ध रूप में स्थित होकर अपने स्वभाव में परिणमन करते हुए भी पुद्गलों से आबद्ध नहीं होती, ऐसा क्यों? जैनदर्शन के अनुसार आत्मा में राग—द्वेष नहीं हो। राग—द्वेष ऐसे कषाय हो जो आत्मा को पुद्गलों की ओर आकृष्ट करते रहते हो किंतु इनके न रहने से आत्मा का पुद्गल की ओर आकर्षण नहीं होती है। पुद्गल के रहते हुए भी आत्मा का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता है। प्रत्येक स्थिति में पुद्गल, पुद्गल ही रहते हैं। इसे कभी धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय या आकाश में भी नहीं बदला जा सकता। ये किसी भी स्थिति में अपने स्वरूप को छोड़ते नहीं हैं अतः ये एक प्रकार से शाश्वत द्रव्य हैं।

1.9.5 पुद्गल सत् द्रव्य है

जैनदर्शन में सत् की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि—“उत्पाद—व्यय—ध्रौव्ययुक्तं सत्” अर्थात् उत्पाद—व्यय ध्रौव्यत्व तीनों की युति का नाम है—सत्। यहां सत् से तात्पर्य केवल त्रैकालिक सत्यता से नहीं है। यहां सत् से तात्पर्य है कि द्रव्य में उत्पाद—व्यय एवं ध्रौव्यत्व है। इसी अर्थ में पुद्गल को सत् कहा गया है। पुद्गल में उत्पाद और व्यय है अतः यह अशाश्वत है उसमें ध्रौव्यत्व है अतः यह शाश्वत है। भगवतीसूत्र में कहा गया है कि

पुद्गल शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। द्रव्य रूप में यह शाश्वत है क्योंकि प्रत्येक स्थिति में इसका अस्तित्व रहेगा। पर्याय रूप में यह अशाश्वत है क्योंकि इसके स्कन्ध बनते बिगड़ते रहते हो। कभी द्वयणुक का पर्याय बनता है तो कभी त्रयणुक का और कभी चतुरणुक का अर्थात् एक पर्याय बनता है तो दूसरा बिगड़ता है। एक का उत्पाद होता है तो दूसरे का व्यय होता है किंतु इस उत्पाद या व्यय की स्थिति में भी पुद्गल, पुद्गल ही रहता है। उसके अस्तित्व की हानि किसी भी स्थिति में नहीं होती है।

1.9.6 पुद्गल अचेतन है

जैनदर्शन के छः द्रव्यों में एकमात्र चेतन द्रव्य जीव ही है, शेष पांच द्रव्य अचेतन हो अतः पुद्गल भी अचेतन है। कम्प्यूटर की कृत्रिम बौद्धिकता के सारे कार्य भी चेतन रहित होने से अजीव की कोटि में ही आयेंगे। जैनदर्शन में चेतन-अचेतन की भेदरेखा चैतन्य गुण के आधार पर निर्धारित की गयी है। यद्यपि जीव द्वारा ज्ञान आदि कार्य में पुद्गल की सहायता ली जाती है पर चैतन्य पुद्गल का गुण नहीं, अतः पुद्गल अचेतन है।

1.9.7 पुद्गल परिणामी है

पुद्गल की परिणति दो प्रकार की होती है—1. सूक्ष्म, 2. बादर। सूक्ष्म परिणति वाला स्कन्ध चतुःस्पर्शी होता है। चतुःस्पर्शी होने के कारण यह अनन्त प्रदेशी स्कन्ध होकर भी इन्द्रिय ग्राह्य नहीं बनता। उत्तरवर्ती चार स्पर्श (मृदु, कठोर, गुरु, लघु) बादर परिणाम वाले स्कन्धों में ही होते हो। मृदु, कठोर, गुरु और लघु—ये स्पर्श पूर्ववर्ती चार स्पर्शों के सापेक्ष संयोग से बनते हो। मौलिक स्पर्श चार ही हो—शीत—उष्ण और स्निग्ध—रूक्ष। रूक्ष स्पर्श की बहुलता से लघु स्पर्श होता है और स्निग्ध की बहुलता से गुरु। शीत और स्निग्ध की बहुलता से मृदु स्पर्श और उष्ण एवं रूक्ष की बहुलता से कर्कश स्पर्श बनता है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म परिणति की निवृत्ति के साथ-साथ जहां स्थूल परिणति होती है, वहां चार स्पर्श भी बढ़ जाते हो। पुद्गल जड़ पदार्थ होते हुए भी सतत् परिणमन करता रहता है। इसके कुछ परिणमन दृश्य होते हो, कुछ अदृश्य भी होते हो। यह परमाणु के रूप में हो या स्कन्ध के रूप में हो, सतत् परिवर्तनशील रहता है। इसमें कुछ न कुछ घटित होता रहता है।

परिणमन के तीन कारण

पुद्गल में हर क्षण परिणमन होता रहता है। परिणमन की अपेक्षा से पुद्गल के तीन प्रकार माने गये हो—

1. वैस्रसिक (स्वाभाविक),
2. प्रायोगिक,
3. मिश्र।

जिनका परिणमन स्वभावतः होता है वे पुद्गल वैस्रसिक हो। इस परिणमन में किसी की अपेक्षा नहीं होती है। यह पुद्गल का अपना स्वतः परिणमन है जैसे उल्कापात आदि (डमजवतपजम)।

जीव के प्रयोग से शरीर आदि रूप में जो परिणमन होता है, वह प्रायोगिक परिणमन है जैसे जीवित शरीर (स्पअपदह ठवकल)।

जीव के प्रयत्न और स्वभाव दोनों के संयोग से जो परिणमन होता है, वह मिश्र परिणमन हो जैसे मृत शरीर।

1.9.8 पुद्गल कब से कब तक

प्रवाह की अपेक्षा से पुद्गल अनादि काल से है और अनंत काल तक रहेगा किंतु स्थिति की अपेक्षा से सादि और सान्त है। जैसे परमाणु से स्कन्ध बना तो स्कन्ध की आदि हो गई और स्कन्ध भेद से परमाणु बना तो यह सान्त स्कन्ध हो गया है। परमाणु, परमाणु के रूप में और स्कन्ध, स्कन्ध के रूप में रहे तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल तक रह सकते हो। बाद में तो परिवर्तन अवश्यभावी है। यह इनकी काल सापेक्ष स्थिति है। क्षेत्र सापेक्ष स्थिति भी यही है। अर्थात् परमाणु या स्कन्ध के एक स्थान में अवस्थित रहने की कालावधि भी उत्कृष्टतः असंख्यात काल ही है। उसके बाद उनको वह क्षेत्र छोड़ना ही पड़ता है।

1.9.9 पुद्गल के विविध रूप

पुद्गल के मूल अर्थ में ही यह देखा गया है कि पुद्गल पूरण और गलन धर्मा है। गलन होते-होते यह परमाणु रूप में आता है तो परमाणुओं के समुदय से विविध प्रकार के स्कन्ध बनते और बिगड़ते हो। जिसका स्वरूप इस प्रकार समझाया जा सकता है—

1. दो परमाणु मिलने से द्विप्रदेशी (द्वयणुक) स्कन्ध बनता है।

जैसे + त्र

2. तीन परमाणु मिलने से त्रिप्रदेशी (त्रयणुक) स्कन्ध बनता है।

जैसे + + त्र

3. चार परमाणु मिलने से चतुःप्रदेशी (चतुरणुक) स्कन्ध बनता है।

जैसे + + + त्र

इसी प्रकार अनंत परमाणुओं के सम्बन्ध से अनन्त प्रदेशी स्कन्ध बनते हो और स्कन्ध के भेद से परमाणु हो जाते हो।

स्कन्ध के भेद परमाणु के रूप में—

1. द्विप्रदेशी स्कन्ध त्र +

एक परमाणु एक परमाणु

2. त्रिप्रदेशी स्कन्ध त्र + +

एक परमाणु एक परमाणु एक परमाणु

अथवा

+

दो परमाणु + एक परमाणु

3. चतुःप्रदेशी स्कन्ध के चार विकल्प होते हो—

अ. चारों पृथक्-पृथक् परमाणु

+ + +

ब. दो पृथक्-पृथक् परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध

+ +

स. दो द्विप्रदेशी स्कन्ध

+

द. एक परमाणु और एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध

+

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि—दो से लेकर अनन्त तक के एकीभूत परमाणु स्कन्ध कहलाते हो। दो, चार, दस, सौ, हजार, करोड़, संख्येय, असंख्येय और अनन्त परमाणुओं तक का एक स्कन्ध हो सकता है। दो परमाणुओं से मिलकर बनने वाला द्विप्रदेशी स्कन्ध, तीन परमाणुओं से मिलकर बनने वाला त्रिप्रदेशी स्कन्ध, चार परमाणुओं से मिलकर बनने वाला चतुःप्रदेशी स्कन्ध कहलाता है। इसी प्रकार दस प्रदेशी, हजार प्रदेशी, लाख प्रदेशी, करोड़ प्रदेशी, संख्येय, असंख्येय एवं अनन्त प्रदेशी स्कन्ध होते हो। हमें केवल अनन्त प्रदेशी स्कन्ध ही दृष्टिगोचर होते हो। उससे छोटे स्कन्ध हमारे चक्षु के विषय नहीं बन पाते।

यहां एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या स्कन्ध केवल परमाणुओं के मिलने से ही बनते हो या अन्य किसी माध्यम से भी बनते हो।

जैनसिद्धान्त दीपिका में कहा गया है—‘तद् भेदसंघाताभ्यामपि स्कन्धस्य भेदतसंघाततोऽपि स्कन्धो भवति, भिद्यमाना शिला संहन्यमानाः तन्तवश्च’ अर्थात् स्कन्ध केवल परमाणुओं के संयोग से नहीं अपितु स्कन्ध अपने भेद और संघात होने से भी निर्मित होता है अर्थात् स्कन्ध के टूटने और इकट्ठे होने से भी स्कन्ध बनता है।

स्कन्ध भेद से स्कन्ध

स्कन्ध के टूटने से भी स्कन्ध बनते हो, जैसे एक बड़ी पत्थर की शिला है, जो स्वयं स्कन्ध है। इसके कई टुकड़े कर दिये गये। अब उनमें से प्रत्येक टुकड़ा एक स्कन्ध बन गया। दस मीटर कपड़े का एक टुकड़ा है, यह भी एक स्कन्ध है। इस कपड़े के दो-दो मीटर के पांच टुकड़े कर दिये गये तो पांच स्कन्ध बन गये। इसप्रकार स्कन्ध को तोड़ने से स्कन्ध बनते हो और यह तब तक बनते हो जब तक वह परमाणु न हो जायें अर्थात् जब तक दो प्रदेश भी होंगे, तब तक वह स्कन्ध ही कहलायेगा।

स्कन्ध के संघात से स्कन्ध

जब स्कन्ध आपस में मिलते हो तो नये-नये स्कन्ध निर्मित होते हो। जैसे दरवाजे में लकड़ी के कई टुकड़े जुड़े होते हो। हर लकड़ी का टुकड़ा अपने आप में स्कन्ध है और ये मिलकर एक नये स्कन्ध को बनाते हो। मिले हुए वस्त्र में दरजी कई कपड़े के टुकड़ों को

जोड़कर वस्त्र का निर्माण करता है। हर टुकड़ा स्कन्ध है पर जब ये मिलकर कपड़े का रूप लेते हो तो एक नया स्कन्ध बन जाता है।

स्वाभाविक स्कन्ध एवं कृत्रिम स्कन्ध

प्रायः धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन अस्तिकाय द्रव्यों को भी स्कन्ध कहा जाता है। चूंकि ये स्कन्ध कभी बनते बिगड़ते नहीं हो। ये यथावत रूप में रहते हैं इसलिए इन स्कन्धों को स्वाभाविक कहा जाता है। पुद्गलास्तिकाय के स्कन्ध चूंकि भेद और संघात से तथा परमाणु संघात से बनते—बिगड़ते रहते हो, ये स्थायी नहीं हो अतः इन्हें कृत्रिम स्कन्ध कहा जाता है।

1.9.10 पुद्गल का अप्रदेशी एवं सप्रदेशी रूप

पुद्गल द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की दृष्टि से अलग—अलग स्थिति में होते हो, जिसका विवरण इस प्रकार है—

द्रव्य की दृष्टि से—स्कन्ध सप्रदेशी ही होते हो।

क्षेत्र की दृष्टि से—स्कन्ध अप्रदेशी भी होते हो और सप्रदेशी भी। जो पुद्गल स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश में ठहरने वाला होता है, वह अप्रदेशी और जो आकाश के एक से अधिक प्रदेश में ठहरने वाला होता है, वह सप्रदेशी होता है।

काल की दृष्टि से—एक समय की स्थिति वाला स्कन्ध अप्रदेशी और इससे अधिक स्थिति वाला सप्रदेशी कहलाता है।

भाव की दृष्टि से—एक गुण (न्दपज) वाला स्कन्ध अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी होता है।

इसी प्रकार द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से परमाणु अप्रदेशी ही होते हो। काल की अपेक्षा से एक समय की स्थिति वाला परमाणु अप्रदेशी और अधिक समय की स्थिति वाला सप्रदेशी होता है।। भाव की अपेक्षा से एक गुण वाला अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी होता है।

बोध प्रश्न

पुद्गल की परिणति कैसे होती है?

1.9.11 पुद्गल के भेद

विभिन्न दृष्टियों से पुद्गल के अनेक भेद किये जाते हो, जिनका विवरण नीचे दिया जा रहा है—

एक भेद

जो भी पदार्थ पूरण—गलन से युक्त है वह पुद्गल है अर्थात् सभी प्रकार के पुद्गलों को 'पुद्गल' की ही संज्ञा से अभिहित किया जाता है अतः इस दृष्टि से पुद्गल का एक ही प्रकार है। अपने विशिष्ट गुण की दृष्टि से यह एक ही है।

दो भेद

पुद्गल के दो भेद भी मिलते हो—‘परमाणुः स्कन्धश्च’ । 1. परमाणु, 2. स्कन्ध ।

‘अविभाज्यः परमाणुः’ इस परिभाषा के आधार पर परमाणु को अविभाज्य कहा गया है। परमाणु का अर्थ है परम+अणु। परमाणु सर्व सूक्ष्म होता है, अतएव वह अविभाज्य होता है। परमाणु का लक्षण बताते हुए आचार्यों ने कहा है कि यह एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श से युक्त होता है और दृश्यमान कार्यों के द्वारा जिसका अस्तित्व जाना जाता है, उसे परमाणु कहते हो।

परमाणुओं के एकीभाव को स्कन्ध कहते हो। दो से लेकर अनंत तक के परमाणु एकीभूत होकर विविध प्रकार के स्कन्ध बनाते हो। स्कन्ध के भेद और संघात से भी स्कन्ध का निर्माण होता है जिसका विवेचन इसी अध्याय में किया जा चुका है।

पुद्गल के चार भेद

जैनागमों एवं जैनाचार्यों ने पुद्गल को जिन चार भागों में विभक्त किया है, वे इस प्रकार हो—

1. स्कन्ध (परमाणुओं के समूह),
2. देश (स्कन्ध का कल्पित भाग),
3. प्रदेश (स्कन्ध से पृथक् न होने वाले अविभाज्य अंश),
4. परमाणु (स्कन्ध से पृथक् अविभाज्य तत्त्व)।

पुद्गल के छः भेद

पुद्गल के सूक्ष्म, बादर स्कन्धों की दृष्टि से पुद्गल के छः भेद भी किये जाते हो, जो इस प्रकार हो—

- | | | |
|------------------|-------------|---------------------|
| 1. बादर—बादर, | 2. बादर, | 3. बादर—सूक्ष्म, |
| 4. सूक्ष्म—बादर, | 5. सूक्ष्म, | 6. सूक्ष्म—सूक्ष्म। |

1. **बादर—बादर**—जो स्थूल स्कन्ध एक बार टूटने पर पुनः उसी रूप में न बन सके, न जुड़ सके उन्हें बादर—बादर स्कन्ध कहते हो, जैसे—हीरा, मोती, पत्थर, लकड़ी।

2. **बादर**—जो स्थूल स्कन्ध एक बार टूट कर अलग हो जाने के बाद भी पुनः मिलाने पर उसी रूप में मिल जाये, उन्हें बादर स्कन्ध कहते हो, जैसे—तेल, घी, दूध, पानी।

3. **बादर—सूक्ष्म**—जो स्कन्ध सूक्ष्म होने से आंखों द्वारा दिखाई नहीं देते पर इन्द्रिय गम्य होते हैं उसे बादर—सूक्ष्म स्कन्ध कहते हो, जैसे—गंध, रस एवं स्पर्श आदि। यह स्कन्ध चाक्षुष नहीं है।

4. **सूक्ष्म—बादर**—जो स्कन्ध देखने पर तो स्थूल प्रतीत होते हो किंतु उन्हें अलग—अलग नहीं किया जा सकता, उसे सूक्ष्म—बादर स्कन्ध कहते हो। जैसे—धूप, छाया आदि।

5. **सूक्ष्म**—जो स्कन्ध होते हुए भी किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण न हो सके उसे सूक्ष्म स्कन्ध कहते हो, जैसे मनोवर्गणा, भाषावर्गणा आदि इन्द्रियातीत स्कन्ध।

6. **सूक्ष्म—सूक्ष्म**—अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्धों को सूक्ष्म—सूक्ष्म के अंतर्गत रखा गया है। कर्मण वर्गणा आदि अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्धों को इस वर्ग में रखा गया है।

पुद्गल के आठ भेद

दो परमाणुओं से लेकर अनन्त या अनन्त—अनन्त परमाणुओं के संयोग से जो स्कन्ध बनते हो, उनका वर्गीकरण अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। उनमें से एक है—जीव के काम में आने वाले पुद्गल—स्कन्धों का वर्गीकरण। सूक्ष्म—पुद्गल—स्कन्ध जीव के काम में नहीं आते, अतः यह स्पष्ट है कि केवल अनन्त—अनन्त परमाणुओं के संयोग से बनने वाले स्कन्ध ही जीव के लिए उपयोगी बनते हो। एक ही प्रकार के ऐसे ही पुद्गल स्कन्धों की श्रेणी या जाति को वर्गणा (ब्रह्म) कहा जाता है अर्थात् वर्गणा का अर्थ है सजातीय पुद्गलों का समूह। पुद्गल स्कन्धों की यों तो अनन्त वर्गणाएं होती हो किंतु जीव के लिए उपयोगी आठ वर्गणाओं का विवेचन यहां किया जा रहा है—1. औदारिक वर्गणा, 2. वैक्रिय वर्गणा, 3. आहारक वर्गणा, 4. तैजस वर्गणा, 5. कर्मण वर्गणा, 6. श्वासोच्छवास वर्गणा, 7. भाषा वर्गणा, 8. मनो वर्गणा।

इनमें से एक से पांच वर्गणाएं पांच प्रकार के शरीरों के निर्माण में उपयोगी होती हो। इस प्रकार जैनदर्शन में पांच प्रकार के शरीर का उल्लेख भी मिलता है, जो इस प्रकार है—1. औदारिक शरीर, 2. वैक्रिय शरीर, 3. आहारक शरीर, 4. तैजस शरीर 5. कर्मण शरीर।

उपर्युक्त पांच वर्गणाओं के अतिरिक्त शेष तीन वर्गणाएं क्रमशः श्वास—उच्छवास, वाणी और मन की क्रियाओं में काम आती हो। आठों वर्गणाओं का विवरण इस प्रकार है—

1. **औदारिक वर्गणा**—औदारिक शरीर के रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गल समूह को औदारिक वर्गणा कहते हैं। औदारिक वर्गणा पुद्गलों से अस्थि, मज्जा, मेद, मांस, रक्त, रस एवं शुक्र रूप धातुमय शरीर का निर्माण होता है। मनुष्य और तिर्यच (पशु, कीट, पतंग, पक्षी एवं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि) जीवों के शरीर औदारिक वर्गणा के पुद्गलों से ही निर्मित होते हो।

2. **वैक्रिय वर्गणा**—छोटा—बड़ा, हल्का—भारी, दृश्य—अदृश्य आदि तरह—तरह की आकृति निर्माण में समर्थ शरीर का निर्माण जिन पुद्गलों से होता है उन्हें वैक्रिय वर्गणा के पुद्गल कहते हो। वैक्रिय शरीर में रक्त, मांस, मज्जा आदि धातुएं नहीं होती हो। तथा जो मृत्यु के बाद कपूर की भांति उड़ जाता है। देव और नारक जीवों को ऐसा शरीर जन्म से सहज ही प्राप्त होता है। वायुकायिक जीव, वैक्रियलब्धि (जन्म से नहीं, अपितु विशेष उपक्रम से प्राप्त सामर्थ्य) सम्पन्न मनुष्य और तिर्यच जीवों को भी यह प्राप्त हो जाता है।

3. **आहारक वर्गणा**—विशेष साधना या उत्कृष्ट तपस्या से प्राप्त आहारक लब्धि (योगशक्ति) से उद्भूत शरीर पुद्गल समूह से निर्मित होता है उसे अहारक वर्गणा कहते हैं। इस शरीर का उपयोग चतुर्दशपूर्वधर करते हैं। विशिष्ट योग शक्ति संपन्न मुनि के कोई

व्यक्ति गहन विषय से संबंधित प्रश्न पूछता है। वह उस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ होता है तो वह आहारक वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर एक सुन्दर आकृति का निर्माण करता है। उस आकृति को सर्वज्ञ के पास भेजकर प्रश्न का उत्तर मंगवाता है। वह आकृति प्रश्न का उत्तर लेकर पहुंचती है। योगी प्रश्नकर्ता को समाधान दे देता है। ये सारी क्रियाएं इतनी द्रुतगति से होती हैं कि प्रश्नकर्ता को उसका अहसास भी नहीं होता।

इस प्रकार आहारक वर्गणा से निर्मित आहारक शरीर का उपयोग विशेष रूप से जिज्ञासा के समाधान में होता है।

4. तैजस वर्गणा—जिस पुद्गल समूह से तैजस शरीर का निर्माण होता है वह तैजस वर्गणा कहलाती है। यह प्रत्येक प्राणी के स्थूल शरीर (औदारिक या वैक्रियक) के साथ तो रहती ही है किंतु स्थूल शरीर छूटने के बाद भी यह सूक्ष्म शरीर के रूप में जीव के साथ रहती है अर्थात् मृत्यु के उपरान्त भी यह जीव को नहीं छोड़ती है। यह एक प्रकार से तेजोमय परमाणुओं की संरचना है, जिसकी तुलना जैव-विद्युत-प्लाज्मा के साथ की जा सकती है। तैजस वर्गणा के पुद्गल चूंकि विद्युन्मय ऊर्जा के रूप में होते हो इसलिए जीव की पाचन क्रिया में भी उपयोगी होते हो। तैजस शरीर (विद्युत शरीर) की ऊर्जा का विशेष नियमन कर व्यक्ति तेजोलब्धि नामक शक्ति उत्पन्न कर सकता है।

5. कर्मण वर्गणा—यह तैजस शरीर से सूक्ष्मतर होती है। यह भी जीव के साथ सदा रहती है। कर्मण वर्गणा से निष्पन्न कर्म शरीर स्थूल शरीर के साथ रहकर जहां विभिन्न प्रकार के परिणाम देता है, वहीं सूक्ष्म शरीर के रूप में जीव के साथ रहकर उसे भटकाता रहता है। आठों कर्मों के पुद्गल समूह इस वर्गणा के अंतर्गत आते हो। कर्मण वर्गणा के पुद्गल समूह जीवों की सत्-असत् क्रिया के प्रतिफल के रूप में जीव के साथ बंध जाते हो। ये जैसे होते हो, वैसे ही जीव भी प्रभावित होता है।

6. श्वासोच्छ्वास वर्गणा—श्वास लेने एवं श्वास छोड़ने अर्थात् श्वास एवं प्रश्वास के योग्य पुद्गल समूह इस वर्गणा के अंतर्गत आते हो। ऑक्सीजन के स्कन्धाणु इसी वर्गणा के हो।

7. भाषा वर्गणा—जब कोई भी जीव बोलने की क्रिया करता है या बोलता है तो वह इस वर्गणा के पुद्गल समूह को ही ध्वनि में परिवर्तित करता है अतः वचन रूप में प्रयुक्त होने वाले पुद्गल समूह का नाम भाषा वर्गणा है।

8. मनोवर्गणा—चिंतन आदि मन की प्रवृत्तियों में सहायक बनने वाले पुद्गल-समूह को मनोवर्गणा कहते हो। कोई भी मननशील प्राणी जब तक चिंतन या मनन की क्रिया करता है तो वह पहले मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है और उन्हीं की सहायता से चिंतन, मनन की क्रियाएं सम्पन्न करता है।

उपर्युक्त वर्गणाओं में से प्रथम चार वर्गणाएं अष्टस्पर्शी स्थूल स्कन्ध हो। वे हल्के-भारी, मृदु-कठोर भी होते हो। श्वासोच्छ्वास, कर्मण, वचन और मन—ये चार वर्गणाएं चतुःस्पर्शी सूक्ष्म स्कन्ध हो इनमें केवल शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष—ये चार ही स्पर्श होते हो, शेष चार

स्पर्श (हल्का-भारी, मृदु-कठोर) इनमें नहीं होते हो। ये वर्गणाएं पूरे लोक में व्याप्त हो किंतु इनका प्रयोग तभी हो सकता है, जब ये जीव द्वारा गृहीत होते हो। संसार का कोई भी प्राणी इन वर्गणाओं में से अपने-अपने योग्य वर्गणाओं को ग्रहण किए बिना अपना काम नहीं कर सकता। वह हर क्षण नई वर्गणा को ग्रहण करता है और छोड़ता रहता है।

बोध प्रश्न

वर्गणा किसे कहते हैं।

1.9.12 पुद्गल की अवस्थाएं

जैनदर्शन प्रत्येक द्रव्य के अनन्त गुण मानता है और एक-एक गुण की अनन्त पर्याय मानता है अतः प्रत्येक द्रव्य की अनन्त-अनन्त पर्यायें होती हो। जो पर्याय परिणमन में अन्य निमित्तों की अपेक्षा नहीं रखते हैं वे स्वभाव-पर्याय और जो अन्य निमित्तों की अपेक्षा रखते हो वे विभाव-पर्याय कहलाते हो। पुद्गल का परमाणु रूप उसका स्वभाव गुण है और उसका परिणमन ही स्वभाव पर्याय है। स्कन्ध पुद्गल के वैभाविक गुण है और उनका परिणमन विभाव पर्याय है। पुद्गल के विभाव पर्याय ही पुद्गल की अवस्थाओं के रूप में जाने जाते हो। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हो कि परमाणुओं के एकीकरण या पृथक्करण के परिणाम स्वरूप जो पुद्गलस्कन्ध बनते हो, वे संख्या में दस माने जाते हो जिन्हें पुद्गल की अवस्थाओं या विभाव पर्याय के रूप में जाना जाता है।

शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप ये दस पुद्गल द्रव्य के पर्याय हो। तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वाति ने पुद्गल को शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत आदि पर्यायों से युक्त माना है। जैनसिद्धान्त दीपिका में भी इन अवस्थाओं का उल्लेख इस प्रकार हुआ है। जैन सिद्धान्त दीपिका का सूत्र है—‘शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योत-प्रभावांश्च’ (1/15) शब्द आदि पुद्गल के विभिन्न पर्याय हो, जो इस प्रकार हो—1. शब्द (वनदक), 2. बन्ध (थेपवद), 3. सौक्ष्म्य (नइजमसजल), 4. स्थौल्य (ळतवेमदमे), 5. संस्थान (ब्दपिहनतंजपवद), 6. भेद (थेपवद), 7. तम (कंतादमे), 8. छाया (कवू), 9. आतप (नदसपहीज), 10. उद्योत (डववदसपहीज)। 11. प्रभा।

जैन सिद्धान्त दीपिका में जैसे सूर्य के प्रकाश को आतप और चन्द्रमा के प्रकाश को उद्योत कहा गया है उसी प्रकार रत्नों के प्रकाश को ‘प्रभा’ कहकर दस अवस्था के स्थान पर ग्यारह अवस्थाओं को स्वीकार किया गया है। किंतु अन्यत्र ‘रत्नों’ के प्रकाश को पृथक् न मानकर पुद्गल की दस अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है, जिसका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है—

शब्द

नैयायिक आदि कुछ दार्शनिक शब्द को आकाश का गुण मानते हो। उनके अनुसार चूंकि शब्द आकाश में होता है अतः यह आकाश का गुण है। जैन दार्शनिक शब्द को आकाश का गुण नहीं मानते हो। उनके अनुसार यदि आकाश में होने मात्र से शब्द आकाश

का गुण है तो गति भी आकाश में होती है, 'स्थिरता' भी आकाश में होती है तो क्या ये आकाश के गुण माने जाएंगे। जैसे ये आकाश के गुण नहीं माने जाते, वैसे ही शब्द को भी आकाश का गुण नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह है कि शब्द मूर्त है, वह अमूर्त आकाश का गुण कैसे हो सकता है? जो जिसका गुण होता है वह सदा अपने मूल के समान होता है। अगर शब्द आकाश का गुण है और शब्द मूर्त है तो आकाश को भी मूर्त होना चाहिए। किंतु आकाश अमूर्त है और शब्द मूर्त है। यहां प्रश्न हो सकता है कि शब्द मूर्त कैसे? यदि शब्द मूर्त न हो तो वह कर्णेन्द्रिय का विषय ही नहीं बन सकता। इन्द्रियां मूर्त को ही ग्रहण करती हो, अमूर्त को नहीं अतः शब्द मूर्त है, यह बात स्पष्ट है।

इस प्रकार जैनदर्शन नैयायिक आदि की तरह शब्द को आकाश का गुण न मानकर पौद्गलिक मानते हो। जैनदर्शन के अनुसार शब्द शक्तिमान पुद्गलद्रव्य स्कन्ध है। वक्ता बोलने से पहले भाषा वर्गणा के पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण करता है। भाषा के रूप में उनका परिणमन करता है और अन्त में उत्सर्जन करता है अर्थात् उसे छोड़ता है। उत्सर्जन द्वारा छोड़े गये भाषा के पुद्गल पूरे आकाश में फैल जाते हैं। शब्द बोलने में वक्ता को तीन प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है—

1. भाषा वर्गणा के पुद्गल का ग्रहण।
2. ग्रहण किये गये पुद्गलों का भाषा में परिणमन।
3. भाषा में परिणत पुद्गलों का आकाश में उत्सर्जन।

तीसरी प्रक्रिया से स्पष्ट है कि हम जो सुनते हो वह वक्ता का मूल शब्द नहीं होता है। वक्ता का शब्द आकाश प्रदेशों के माध्यम से श्रोता तक पहुंचता है।

शब्द के प्रकार

चूंकि शब्द उत्पन्न होता है, नित्य एवं शाश्वत नहीं है अतः उत्पत्ति की दृष्टि से शब्द के दो प्रकार हो—

1. स्वाभाविक, 2. प्रायोगिक।

1. स्वाभाविक शब्द—ऐसे शब्द जो सहज ही होते हो, जिनकी उत्पत्ति में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। उन अप्रयत्न जन्य शब्द को स्वाभाविक शब्द कहते हो जैसे मेघ—गर्जना। यह पूर्णतया स्वाभाविक ध्वनि है। इस ध्वनि के लिए बादल को प्रयास नहीं करना पड़ता है। यह सहज ही होता है।

2. प्रायोगिक शब्द—जो शब्द प्रयत्न पूर्वक होते हो, उन्हें प्रायोगिक शब्द कहते हो। यह दो प्रकार का है—

;पद्ध भाषात्मक शब्द, ;पद्ध अभाषात्मक शब्द।

1. भाषात्मक शब्द—जो शब्द भाषा के रूप में अभिव्यक्त होते हो वे भाषात्मक शब्द कहलाते हो। जैसे अध्यापक कक्षा में पढ़ा रहा है, उसके शब्द भाषात्मक हो। मनुष्य, पशु—पक्षियों आदि की ध्वनियां भाषात्मक है। इसके भी दो भेद हो—

- (अ) अक्षरात्मक, (ब) अनक्षरात्मक।

जो अक्षर रूप में बोले एवं लिखे जाते हो, वे अक्षरात्मक शब्द हो और जो अक्षर रूप में नहीं होते हो वे अनक्षरात्मक शब्द हैं। रौने, चिल्लाने, खांसने, फुसफुसाने आदि तथा पशु-पक्षियों की धनियां-अनक्षरात्मक हो। इन्हें कभी अक्षरबद्ध नहीं किया जा सकता है।

2. अभाषात्मक शब्द—वाद्य यंत्रों से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वह अभाषात्मक है। चूंकि वाद्य यंत्र विविध प्रकार के होते हो अतः इस शब्द के चार भेद किये गये हो—तत्, वितत्, घन, शुषिर।

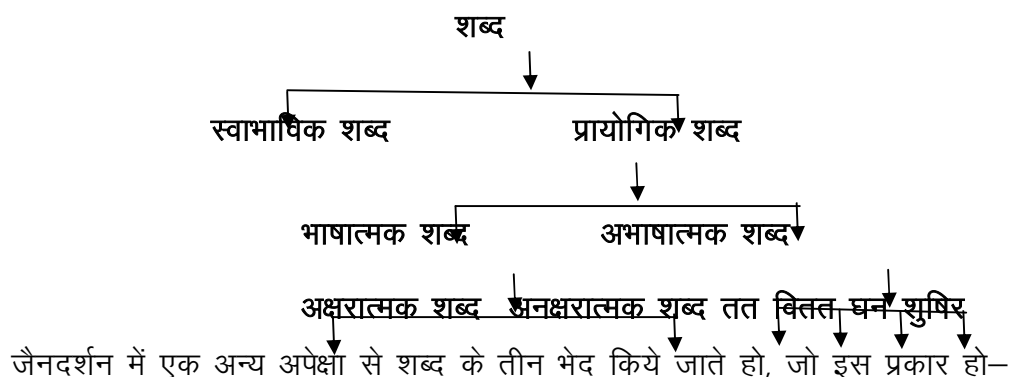
1. **तत्**—जो ध्वनि चमड़े की झिल्लियों के कंपन से उत्पन्न होती है, जैसे—तबला, ढोलक, मृदंग आदि।

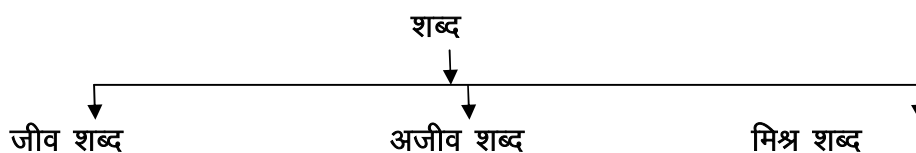
2. **वितत्**—तार के कंपन से उत्पन्न होने वाली ध्वनि को वितत् कहते हो, जैसे—सितार, वीणा आदि।

3. **घन**—ठोस द्रव्यों के आघात से उत्पन्न ध्वनि को घन कहते हो जैसे—घण्टा, ताल आदि।

4. **शुषिर**—ऐसे वाद्य यंत्र जिनमें रिक्त स्थान होते हो, उन रिक्त स्थानों में वायु के कंपन से जो ध्वनि होती है, उसे शुषिर कहते हो, जैसे—शंख, बांसुरी आदि।

निम्न चार्ट से इसे समझा जा सकता है—





1. **जीव शब्द**—जीव द्वारा जो शब्द होता है, उसे जीव शब्द कहते हो, जैसे—कोयल का कूंकना, कुत्ते का भोकना, मनुष्य का बोलना आदि।

2. **अजीव शब्द**—अचेतन द्वारा होने वाला शब्द अजीव शब्द कहलाता है, जैसे—बादल की गर्जना इत्यादि।

3. **मिश्र शब्द**—वे शब्द मिश्र शब्द कहलाते हो, जो जीव और अजीव दोनों के योग से होते हो। उदाहरण के लिए जब एक व्यक्ति बांसुरी बजाता है तो इसमें व्यक्ति जीव और बांसुरी अजीव दोनों का संयोग होता है तभी ध्वनि होती है। दोनों अलग—अलग ध्वनि नहीं कर सकते अतः इसे मिश्र शब्द के अंतर्गत रखा गया है।

बन्ध (श्लेषपद)

परमाणुओं के संयोग—वियोग से पुद्गलों के जो विभिन्न पर्याय बनते हो, वे बन्ध कहलाते हो। 'संश्लेषः बन्धः' अर्थात् संयोग ही बंध है। दूसरे शब्दों में अवयवों का आपस में अवयव और अवयवी के रूप में जो परिणमन होता है, वह बंध है। बंध में जो संयोग है वह प्रचलित संयोग से भिन्न है। बंध में जिन दो तत्त्वों में संयोग होता है, वह एकमेक हो जाते हो किंतु संयोग में ऐसा नहीं होता है अतः बंध में एकत्व होता है किंतु संयोग में नहीं। इसीलिए रसायनशास्त्र में भी संभवतः बंध को यौगिक (बुद्धचवनदक) और संयोग को मिश्रण (डुपगजनतम) कहते हो। बंध एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ होता है। बन्ध दो से अधिक स्कन्धों का भी होता है तथा बन्ध एक या एक से अधिक परमाणुओं का और एक या एक से अधिक स्कन्धों का भी होता है और पुद्गल परमाणुओं का जीव द्रव्य के साथ भी बन्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—'सकषायत्वात् जीवो कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते स बन्धः'।

चूंकि पुद्गलों की सक्रियता से बन्ध होता है तो हर बन्ध सृजित होता है। बन्ध होता है तो इसका कारण क्या है? बन्ध का उपादान तो कर्म पुद्गल स्वयं है। इसका निमित्त कारण जीव हो सकता है, जैसे मेज का उपादान स्वयं लकड़ी है और निमित्त बढ़ई है। चूंकि बंध निर्मित होता है तो हम जानते हो कि जहां निर्माण है वहां विनाश भी है अतः बन्ध नष्ट भी होता है। संभवतः दर्शन में इसीलिए मोक्ष की अवधारणा को स्वीकृति मिली है कि जहां बन्ध सृजित है वहां बन्ध का अंत भी निश्चित है।

बंध के प्रकार

बन्ध के दो प्रकार हो—1. वैस्रसिक बन्ध—स्वभावजन्य बन्ध। 2. प्रायोगिक बन्ध—प्रयत्नजन्य बन्ध।

1. **वैस्रसिक बन्ध**—यह बन्ध सहज होता है। इसके लिए किसी प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती है। आकाश में बादलों की घटा बनती है, इन्द्रधनुष भी बनता है। ये सहज ही बनते हो, इसलिए इस बन्ध को वैस्रसिक कहा जाता है। वैसे वैस्रसिक बन्ध सादि और अनादि दोनों हो। जीव का पुद्गल के साथ जो सम्बन्ध है वह अनादि है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का बंध भी अनादि हैं। द्वयगुण, त्रयगुण आदि के पुद्गल स्कन्ध बनते हैं, वह सादिबन्ध है।

2. **प्रायोगिक बन्ध**—प्रायोगिक बन्ध सहज नहीं है। यह प्रयत्नजनित है। इसके लिए प्रयास करने पड़ते हो। दर्जी कपड़े सिलता है, बढ़ई मेज बनाता है, कारीगर ईमारत बनाता है, इसमें विभिन्न तत्त्वों का जो सम्बन्ध है, वह प्रयत्न द्वारा होता है। यह बन्ध अनादि नहीं क्योंकि यह प्रयत्नजन्य होता है अतः यह सादि है। जब यह निर्मित होता है तब इसका निश्चित समय होता है अतः इसे सादि कहा गया है। हम यह भी जानते हो कि जिसकी आदि (प्रारंभ) है, उसका अन्त भी है अतः प्रायोगिक बन्ध का प्रारम्भ है तो इनका अंत भी है अतः यह सादि और सान्त है।

भेद

‘विश्लेषः भेदः’ अर्थात् स्कन्धों का अलग होना ही भेद है। जब कुछ परमाणु अपने स्कन्धों से टूटकर अलग होते हो तो उन्हें भेद कहते हो। अंतरंग और बहिरंग—इन दोनों प्रकार के निमित्तों से जब स्कन्ध अन्य स्कन्ध या परमाणु में विघटित होते हो तो यह विघटन भी भेद है। भेद के भी दो प्रकार हो—1. स्वाभाविक भेद, 2. प्रायोगिक भेद।

1. **स्वाभाविक भेद**—जब पौद्गलिक स्कन्ध में स्वतः विघटन होता है अर्थात् अलग होने का कोई अन्य निमित्त नहीं होता है तो उसे स्वाभाविक भेद (वैस्रसिक भेद) कहते हो, जैसे—बादलों से जल का गिरना, आसमान से बिजली गिरना, ओले पड़ना आदि। चूंकि ये स्वतः अलग होते हो अतः इस भेद को स्वाभाविक भेद कहते हो।

2. **प्रायोगिक भेद**—प्रायोगिक भेद सहज नहीं है। यह प्रयत्न द्वारा संभव है। किसी न किसी निमित्त के सहारे जो भेद होता है वह प्रायोगिक भेद है। घड़े का फोड़ना, लकड़ी का काटना, पत्थर को तरासना, कपड़े को काटना आदि—आदि क्रियाएं किसी व्यक्ति, बढ़ई, कारीगर एवं दर्जी के द्वारा होती हो। इन समस्त भेदों में कोई न कोई निमित्त अवश्य है अतः यह भेद प्रायोगिक है।

तत्त्वार्थ की टीका सर्वार्थसिद्धि में भेद के छह प्रकार माने गये हो, जो इस प्रकार हो—

1. **उत्कर**—आरी से लकड़ी के चीरने को उत्कर कहा गया है।
2. **चूर्ण**—गेहूं आदि का आटे के रूप में परिवर्तित होना चूर्ण है।
3. **खण्ड**—घड़े का कपाल के रूप में होना खण्ड है।
4. **चूर्णिका**—उड़द, अरहर, मूंग आदि का दाल के रूप में खण्ड होना चूर्णिका है।
5. **प्रतर**—बादल के अलग—अलग पटल का होना प्रतर भेद है।

6. **अनुचटण**—गरम लोहे पर चोट करने से जो चिनगारी अलग होकर निकलती है, उसे अनुचटण कहते हो।

जैनसिद्धान्त दीपिका में पांच भेद किये गये हो—

1. **‘उत्करः मुद्गशमीभेदवत्’** अर्थात् मूंग आदि पदार्थों की दाल के रूप में दो भागों में विभक्त होना उत्कर है। टूटकर जो ऊंचा उठे, वह भी उत्कर है, जैसे—एरण्ड का बीज टूटकर ऊपर उछलता है।

2. **‘चूर्णः गोधूमचूर्णवत्’** अर्थात् गेहूं आदि जब पिसकर चूर्ण—चूर्ण होकर आटे का रूप ले लेते हो तो यह चूर्ण भेद कहलाता है।

3. **‘खण्डः लोहखण्डवत्’** अर्थात् लोहे, लकड़ी, पत्थर आदि के टुकड़े—टुकड़े होना खण्ड भेद कहलाता है।

4. **‘प्रतरः अभ्रपटलभेदवत्’** अर्थात् तहों या परतों में विभाजन होना प्रतर है, जैसे—प्याज का परत उतारना, अभ्रक के प्रतर आदि।

5. **‘अनुतटिका—तटाक रेखावत्’** अर्थात् कांच आदि पदार्थों में दरार पड़ना अनुतटिका है। पानी के अभाव में तालाब की मिट्टी में दरार पड़ने का भेद भी अनुतटिका कहलाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भेद पुद्गल का ही होता है। आत्मा में कभी भेद नहीं होता। कुछ लोग छिपकली की कटी पूंछ को छटपटाते देख यह निष्कर्ष निकालते हो कि जीव में भी भेद है जबकि यह भेद भी पौद्गलिक शरीर का है न कि आत्मा का। शुद्ध आत्मा अखण्ड है। विस्तार शुद्ध आत्मा का गुण नहीं है। जहां विस्तार नहीं वहां भेद के लिए कोई गुंजाइश नहीं है, अतः भेद सदैव पुद्गलों का ही होता है।

सौक्ष्म्य और स्थूल्य

सूक्ष्मता भी पुद्गल की एक पर्याय है और स्थूलता भी पुद्गल की एक पर्याय है। सूक्ष्मता को छोटापन और स्थूलता को बड़ापन कह सकते हो। ये दोनों ही पुद्गल के पर्याय हो। इन्हें दो प्रकार का माना जा सकता है। पहले सूक्ष्मता के दो भेद इस प्रकार हो—1. उत्कृष्ट सूक्ष्म या चरम सूक्ष्म, (अन्त्य), 2. आपेक्षिक सूक्ष्म।

1. **उत्कृष्ट सूक्ष्म या चरम सूक्ष्म**—सूक्ष्मता की वह चरम स्थिति जिसका खण्ड फिर से नहीं किया जा सके वह उत्कृष्ट सूक्ष्म (अन्त्य सूक्ष्म) है। उदाहरण के रूप में **‘अन्त्यं परमाणोः’** अर्थात् उत्कृष्ट सूक्ष्म परमाणु है। इससे अधिक सूक्ष्म कोई दूसरा नहीं है। सूक्ष्मता की यह चरम स्थिति है।

2. **आपेक्षिक सूक्ष्म**—इसमें किसी की अपेक्षा से सूक्ष्मता का आकलन होता है, जैसे—गेहूं के बीज से सरसों का बीज सूक्ष्म है और सरसों के बीज से मिर्च या बोगन का बीज सूक्ष्म है।

इसी प्रकार स्थूलता के भी दो भेद हो—1. उत्कृष्ट स्थूल या चरम स्थूल, 2. आपेक्षिक स्थूल।

1. **उत्कृष्ट स्थूल**—उत्कृष्टता की चरम स्थिति को उत्कृष्ट स्थूल कहा गया है। इससे स्थूल कोई पुद्गल नहीं हो सकता। ‘अन्त्यं अशेषलोकव्यापी महास्कन्धस्य’ अर्थात् सम्पूर्ण लोक में फैला हुआ अचित्त महास्कन्ध ही चरम स्थूल है। इससे बढ़कर कोई दूसरा स्थूल स्कन्ध नहीं है।

2. **आपेक्षिक स्थूल**—अपेक्षा से स्थूलता को व्यक्त करना ही आपेक्षिक स्थूल है। आम से स्थूल खरबूज और खरबूज से स्थूल तरबूज होता है अतः खरबूज आम से तो स्थूल है किंतु तरबूज से स्थूल नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हो कि संसार में कोई पदार्थ सूक्ष्म है, कोई कम सूक्ष्म है, कोई उससे भी कम सूक्ष्म है। इसी प्रकार कोई स्थूल है, कोई उससे ज्यादा स्थूल है और कोई उससे ज्यादा स्थूल है। सूक्ष्मता और स्थूलता का सम्बन्ध भी पुद्गल से ही है।

संस्थान

‘आकृतिः संस्थानम्’ अर्थात् आकार को ही संस्थान कहा जाता है। यह भी पुद्गल की ही अवस्था है। परमाणुओं के संयोग—वियोग से विभिन्न प्रकार की जो आकृति बनती है, उसे संस्थान कहते हो। हम जितने प्रकार की आकृतियाँ देखते हो, वे सारे पौद्गलिक ही हो। यों तो संस्थान अनेक प्रकार के हो सकते हो किंतु मुख्य रूप से इन्हें दो भागों में विभक्त किया जाता है—

1. इत्थं संस्थान—नियत आकार वाला। 2. अनित्थं संस्थान—अनियत आकार वाला।

1. **इत्थं संस्थान**—जिसका एक निश्चित आकार होता है वह इत्थं संस्थान है। उसके मुख्य पांच प्रकार हो—1. वृत्त गोलाकार, 2. त्रिकोणाकार, 3. चतुष्कोण, 4. आयत, 5. परिमण्डल—वलयाकार। उपर्युक्त पांचों भेद निश्चित आकार के हो अतः ये इत्थं संस्थान हैं। परिमण्डल और वृत्त दोनों ही गोलाकार हो फिर भी इनमें अन्तर है वृत्त लड्डू की तरह गोल होता है अर्थात् इसका बीच का भाग सघन होता है और परिमण्डल चूड़ी की तरह गोल होता है अर्थात् इसका बीच का भाग खाली होता है।

2. **अनित्थं संस्थान**—यह भी पुद्गल का ही एक आकार है किंतु यह निश्चित एवं व्यवस्थित रूप में नहीं होता अतः इसके विषय में यह इस प्रकार का है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। मेघ आदि के आकार को अनित्थं आकार के अंतर्गत रखा गया है क्योंकि इसका कोई निश्चित आकार नहीं है। निश्चित आकार के अतिरिक्त सभी पौद्गलिक संस्थानों को इसके अंतर्गत रखा जा सकता है।

तम (अन्धकार)

सर्वार्थ सिद्धि में तम (अन्धकार) को परिभाषित करते हुए लिखा गया है—‘तम वस्तुओं के देखने में प्रतिबन्धक कारण है और प्रकाश का विरोधी तत्त्व है।’ जैनसिद्धान्तदीपिका के अनुसार—‘कृष्णवर्णबहुलः पुद्गलपरिणामविशेषः तमः’ अर्थात् पुद्गलों का सघन कृष्ण वर्ण के रूप में परिणमन का नाम तम है। यह पुद्गल का ही पर्याय है।

कुछ विचारक प्रकाश के अस्तित्व को स्वतंत्र मानते हो किंतु वे अंधकार के अस्तित्व को स्वतंत्र नहीं मानते। वे अंधकार को प्रकाश का अभाव मानते हो। ऐसे विचारक अंधकार के भावात्मक अस्तित्व को न मानकर अभावात्मक मानते हो। किंतु जैनदर्शन के अनुसार अंधकार अभावात्मक नहीं है अपितु भावात्मक है। जैन दार्शनिकों के मत से प्रकाश का अभाव अंधकार नहीं है क्योंकि अंधकार प्रत्यक्ष रूप में सबको दिखाई पड़ता है। जो प्रत्यक्ष रूप में सबको दिखाई पड़ता है, उसके स्वतंत्र अस्तित्व को कैसे नकारा जा सकता है। उसका तो अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। जब अंधकार का वर्ण सिद्ध है तो स्पर्श, रस और गंध भी सिद्ध है क्योंकि इनमें से किसी एक के होने से सभी होते हो। इनमें से एक का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। कहने का तात्पर्य है कि जैसे प्रकाश के वर्ण, स्पर्श, रस और गंध हो, वैसे ही अंधकार के भी वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हो इसलिए प्रकाश के अस्तित्व की तरह अंधकार का भी अस्तित्व है। ये दोनों ही अष्टस्पर्शी पुद्गल हो। यदि अंधकार का निषेध माना जाये तो उसी आधार पर प्रकाश का भी निषेध माना जा सकता है। अंधकार अवस्तु है तो प्रकाश को भी अवस्तु माना जा सकता है अतः यह सिद्ध है कि अंधकार भावरूप ही है। विज्ञान भी अंधकार को प्रकाश का अभाव रूप न मानकर स्वतंत्र वस्तु मानता है अतः जैनदर्शन का अंधकार सम्बंधी दृष्टिकोण विज्ञान सम्मत है।

छाया

छाया (ँकवू) भी पुद्गल का ही एक पर्याय है। 'प्रतिबिम्बरूपः पुद्गलपरिणामः छाया' अर्थात् जो पुद्गल प्रतिबिम्ब के रूप में बदल जाते हो, उन्हें छाया कहा जाता है। प्रायः यह देखा जाता है कि जब कोई व्यक्ति धूप में चलता है तो ठीक उसके शरीर के आकार की या छोटी-बड़ी छाया पड़ती रहती है। इसी प्रकार दर्पण के सामने जब कोई व्यक्ति खड़ा होता है तो ठीक उसके शरीर के आकार का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। यह प्रतिबिम्ब पुद्गल ही है।

प्रतिबिम्ब के संदर्भ में एक बार गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—भगवन्! कांच में देखने वाला व्यक्ति क्या कांच को देखता है? अपने शरीर को देखता है? अथवा अपने प्रतिबिम्ब को देखता है?

भगवान् ने कहा—गौतम्! कांच में देखने वाला व्यक्ति न कांच को देखता है, न अपने शरीर को देखता है अपितु वह अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देखता है।

अतः छाया, माया या कल्पना नहीं अपितु ठोस पुद्गल है। यह सच्चाई है कि छाया के अभिव्यक्त होने में उस पदार्थ का बहुत महत्त्व है, जिसमें वह प्रतिबिम्ब होता है। वह पदार्थ जितना स्वच्छ व स्थिर होगा, प्रतिबिम्ब भी उतना ही साफ अभिव्यक्त हो सकेगा। पानी स्वच्छ और स्थिर है तो उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब बहुत साफ उभरता है। परन्तु वही पानी जब गंदा और अस्थिर होता है तो प्रतिबिम्ब साफ नहीं उभरता है।

आतप और उद्योत

आतप और उद्योत दोनों ही पुद्गल की अवस्थाएं हो।

‘सूर्यादीनामुष्णः प्रकाश आतपः’ अर्थात् सूर्य आदि के उष्ण प्रकाश को आतप कहा जाता है। ‘चन्द्रादीनामनुष्णः प्रकाश उद्योतः’ अर्थात् चन्द्र आदि के शीतल प्रकाश को उद्योत कहा जाता है। ये दोनों ही पुद्गल की परिणति हो। सूर्य का प्रकाश, आग की ज्योति या लोप की रोशनी आतप है और चन्द्रमा की चांदनी, जुगनू की धीमी रोशनी आदि को उद्योत कहते हो। सूर्य, अग्नि आदि के उष्ण प्रकाश में प्रकाश के साथ-साथ ताप किरणें (भंज तंले) ज्यादा होती हैं। विज्ञान ने भी यह प्रमाणित किया है कि सूर्य में 35: और लैम्प में 15: प्रकाश रहता है शेष 65: और 85: क्रमशः आतप (उष्णता) रहता है इसीलिए इनके प्रकाश को आतप कहा गया है। इसी प्रकार जुगनू और चन्द्रमा में भी प्रकाश का प्रतिशत कम होता है, शीतलता का प्रतिशत अधिक होता है, इसलिए इन्हें उद्योत के अंतर्गत रखा जाता है।

अतः पुद्गल की उपर्युक्त अवस्थाओं से यह सिद्ध होता है कि मूल द्रव्य के रूप में पुद्गल भले ही एक द्रव्य है किंतु इसकी उपयोगिता एवं उपादेयता बहुत अधिक है। जिधर नजर उठाकर देखें, उधर पुद्गल ही पुद्गल नजर आते हो। यह पुद्गल प्रायः स्कन्ध के रूप में यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरे हुए हो। पुद्गल का एक महत्वपूर्ण एवं चर्चित अविभाज्य अंश है—परमाणु, जिसकी विवेचना के बिना पुद्गल की विवेचना कभी पूर्ण नहीं हो सकती अतः परमाणु का विवेचन यहां आवश्यक प्रतीत होता है।

1.9.13 परमाणु

जैनदर्शन में द्रव्य की संख्या में परमाणु की स्वतंत्र गणना नहीं है। उसे पुद्गल का अंश माना गया है। यहां परमाणु को पुद्गल की सूक्ष्मतम इकाई के रूप में माना गया है। जैनदर्शन का परमाणुवाद सबसे व्यवस्थित एवं मौलिक है।

परमाणु की मौलिकता

प्रायः यह कहा जाता है कि जैनदर्शन का परमाणुवाद मौलिक नहीं है। यह पाश्चात्य एवं वैशेषिक परमाणुवाद की नकल है। किंतु जब हम पाश्चात्य एवं वैशेषिक परमाणुवाद के वैशिष्ट्य की तुलना जैन परमाणु से करते हो तो सच्चाई स्वतः सामने आ जाती है। पाश्चात्य परमाणुवाद के जन्मदाता ल्यूसिपस और डिमोक्रिटस थे। ल्यूसिपस और डिमोक्रिटस के परमाणु की निम्न विशेषताएं जैनदर्शन के परमाणु से मिलती-जुलती हैं—

1. परमाणु अनन्त हो।
2. परमाणु सूक्ष्मतम हो।
3. परमाणु अविभाज्य हो।
4. परमाणु अप्रत्यक्ष हो।
5. दो परमाणुओं के मिलने से द्वयणुक, तीन के मिलने से त्रयणुक आदि स्वीकारे गये हो।
6. परमाणुओं के संघात से संसार की वस्तुएं उत्पन्न हुई हैं।

उपर्युक्त समानताओं से जहां यह भ्रम होता है कि पाश्चात्य परमाणुवाद से जैनदर्शन का परमाणुवाद प्रभावित है वहीं एक मुख्य अन्तर के कारण इस भ्रम का निराकरण भी हो जाता है। पाश्चात्य परमाणुवाद में परमाणु के संयोग से जहां सृष्टि के समस्त तत्त्वों की उत्पत्ति होती है, वहीं आत्मा की उत्पत्ति भी इसी से मानी गयी है। यदि जैनदर्शन का परमाणुवाद पाश्चात्य परमाणुवाद की नकल होता तो यहां पर भी यह तथ्य स्वीकार होता किंतु यहां ऐसा नहीं है। यहां तो आत्मा को नित्य, शाश्वत द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। यह उत्पत्ति और विनाश रहित शाश्वत् द्रव्य है अतः यह सिद्ध होता है कि जैनदर्शन का परमाणु विचार स्वतंत्र एवं मौलिक है। जैन परमाणुवाद की न्याय-वैशेषिक परमाणुवाद से तुलना की जाए तो दोनों में अनेक समानताएं मिलती हो, जो इसप्रकार हो—

1. दोनों परमाणु को सूक्ष्मतम मानते हो।
2. दोनों परमाणु को अविभाज्य मानते हो।
3. दोनों परमाणु को सामान्यतया अप्रत्यक्ष मानते हो।
4. दोनों परमाणुओं के संयोग से सृष्टि के अनेक तत्त्वों की उत्पत्ति मानते हो।
5. दोनों आत्मा को परमाणुओं से स्वतंत्र मानते हो।

किंतु इतना होने पर भी दोनों में काफी अंतर है, जो इस प्रकार है—

1. जहां न्याय-वैशेषिक चार परमाणु (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) मानते हो वहां जैनदर्शन में अनन्त परमाणु माने गये हो।
2. जहां न्यायदर्शन में दो परमाणु मिलने से द्वयणुक, तीन द्वयणुक के मिलने से त्रयणुक और चार त्रयणुक के मिलने से चतुरणुक बनता है, वहां जैनदर्शन दो परमाणु के मिलने से द्वयणुक, तीन के मिलने से त्रयणुक और चार के मिलने से चतुरणुक को स्वीकार करता है।
3. न्याय-वैशेषिक दर्शन में परमाणुओं में गति के लिए ईश्वर की अपेक्षा महसूस की गयी है, जबकि जैनदर्शन में परमाणु को स्वतः गतिशील माना गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि न्याय-वैशेषिक परमाणुवाद और जैन परमाणुवाद भिन्न-भिन्न हो। जैनदर्शन का परमाणुवाद किसी की नकल नहीं है अपितु पुरातन परमाणुवाद है। श्वेताम्बर साहित्य में भगवतीसूत्र, स्थानांगसूत्र, पण्णवणा, तत्त्वार्थसूत्र (स्वोपज्ञ भाष्य) आदि में तथा दिगम्बर साहित्य में षट्खण्डागम (धवला टीका), गोम्मटसार, बृहद्द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय सार, तत्त्वार्थ राजवार्तिक आदि में परमाणुवाद का विस्तृत विवेचन है अतः यह सिद्ध है कि जैन परमाणुवाद सर्वथा मौलिक है।

जैन परमाणु का स्वरूप

जैन परिभाषा के अनुसार पुद्गल का सूक्ष्मतम अंश परमाणु कहलाता है। वह अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और अविभाज्य होता है। यह पुद्गल की सबसे छोटी इकाई है। यह निरवयव एवं निर्विभागी है। इसका आदि, अंत और मध्य भाग नहीं है। उसमें एक वर्ण, एक

गंध, एक रस और दो स्पर्श पाये जाते हो। परमाणु में वर्णादि गुण हैं, फिर भी हम उसे देख नहीं सकते, परन्तु उसके कार्य को देखते हो। परमाणु के कार्य से हमें परमाणु की उपस्थिति का अनुभव होता है। यह सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है। लोकाकाश का एक भी ऐसा प्रदेश नहीं है, जहां पर परमाणु का अस्तित्व न हो। अर्थात् सम्पूर्ण लोक में परमाणु फैले हुए हो। जीव जहां स्थित है, गति करता है, वह वहीं से अपने राग-द्वेषात्मक परिणामों के कारण कर्मण वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर लेता है। यदि परमाणु या पुद्गल लोकाकाश में सर्वत्र व्याप्त न हो, किसी स्थान विशेष में ही हों, तो अन्य स्थान पर स्थित आत्मा कर्मणवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण नहीं कर सकेगा।

परमाणु की अतीन्द्रियता

परमाणु दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसका मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि परमाणु अमूर्त है। परमाणु मूर्त होते हुए भी इन्द्रियग्राह्य नहीं है क्योंकि वह सूक्ष्म है। उसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता। उसे तो पारमार्थिक प्रत्यक्ष से ही जाना जा सकता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष वाला व्यक्ति उसे नहीं जान सकता। विशिष्ट अवधिज्ञानी (रूपी द्रव्य विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान वाला व्यक्ति) उसे जान सकता है। अकेवली यानि छद्मस्थ अथवा क्षायोपशमिक ज्ञानी परमाणु को जान भी सकता है और नहीं भी। केवल ज्ञानी तो सब कुछ जानता है, चाहे वह मूर्त पदार्थ हो या अमूर्त अतः केवली तो जानता ही है इससे यह स्पष्ट है कि परमाणु हमारी इन्द्रियों का विषय नहीं है।

जैन परमाणु और विज्ञान के परमाणु

जैनदर्शन 'परमाणु' उसे मानता है जिसका फिर से विभाजन न हो सके अर्थात् अविभाज्य अंश परमाणु है। विज्ञान भी अणु (जवउ) को मानता है। विज्ञान का अणु जैनदर्शन के परमाणु से भिन्न है क्योंकि विज्ञान जिसे अणु मानता है उसका विभाजन होता है। यह प्रोटोन और इलेक्ट्रॉन में विभक्त होता है। इस प्रकार विज्ञान की मान्यता के अनुसार 'एटम' के टुकड़े किये जा सकते हो, उसे तोड़ा जा सकता है और उसी मूल तत्त्व से अन्य सभी पदार्थ बनते हो, इसलिए मूल तत्त्व केवल अणु ही है। जैन आगम अनुयोगद्वारा में दो प्रकार के परमाणु का उल्लेख मिलता है—1. नैश्चयिक (या सूक्ष्मतम) परमाणु 2. व्यावहारिक परमाणु।

सूक्ष्मतम परमाणु जैनदर्शन का मूल परमाणु है, जो अविभाज्य है किंतु व्यावहारिक परमाणु अनन्त परमाणुओं के समुदाय से बनता है। वस्तुतः वह स्वयं परमाणु पिंड है, फिर भी साधारण दृष्टि से ग्राह्य नहीं होता और साधारण अस्त्र-शस्त्र से तोड़ा नहीं जा सकता इसलिए व्यवहारतः उसे परमाणु कहा गया है। विज्ञान के परमाणु की तुलना इस व्यावहारिक परमाणु से होती है इसलिए परमाणु के टूटने की बात एक सीमा तक जैन दृष्टि को भी स्वीकार है अतः यहां यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जैनदर्शन का मूल परमाणु अविभाज्य है, जबकि विज्ञान का एटम विभाज्य है।

परमाणु मिलन के नियम

जैनदर्शन में स्कन्ध केवल परमाणुओं के संयोग से नहीं बनता है। जैन सिद्धान्त दीपिका के अनुसार—**स्निग्धरूक्षत्वाद् अजघन्य गुणानाम्** स्निग्ध और रूक्ष अजघन्य गुण वाले परमाणुओं का परस्पर एकत्व जब होता है, तब स्कन्ध बनता है अर्थात् स्कन्ध की उत्पत्ति का हेतु परमाणुओं का स्निग्धत्व और रूक्षत्व है। स्निग्धत्व और रूक्षत्व को वैज्ञानिक भाषा में पोजिटिव और निगेटिव विद्युत कहा जाता है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है—**‘स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः’** अर्थात् स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुणों के कारण अणु एक सूत्र में बंधा रहता है। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि टीका में एक स्थान पर लिखा है—**‘स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तो विद्युत्’** अर्थात् बादलों में स्निग्ध और रूक्ष गुणों के कारण विद्युत की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार परमाणु मिलकर स्कन्ध का निर्माण करते हो। गुण यानि अंश एवं अजघन्य यानि दो या दो अधिक गुण वाले स्निग्ध परमाणु।

बोध प्रश्न

वैशेषिक दर्शन में कितने परमाणु माने गये हैं।

1.9.14 जीव और पुद्गल का सम्बन्ध

जीव और अजीव तत्त्व को मानने के कारण जैनदर्शन को द्वैतवादी कहा जाता है। द्वैतवाद वहां होता है, जहां दो स्वतंत्र, निरपेक्ष, शाश्वत् सत्ता की स्वीकृति होती है। सांख्य दर्शन द्वैतवादी है क्योंकि वहां प्रकृति और पुरुष को इसी रूप में स्वीकार किया गया है। पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट द्वैतवादी है क्योंकि वह निरपेक्ष द्रव्य और सापेक्ष द्रव्य का द्वैत स्वीकार करता है तथा चित् और अचित् को पृथक्-पृथक् मानता है। इसी प्रकार जैनदर्शन भी द्वैतवादी है क्योंकि यहां भले ही छः द्रव्य हो किंतु इन्हें जीव और अजीव में ही विभक्त किया जाता है। तत्त्व व्यवस्था में भी यहां जीव और अजीव को ही मूल माना गया है। द्रव्य व्यवस्था में जीव और पुद्गल ये सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व हो। ‘चेतना लक्षणो जीवः’ कहकर जहां जीव का प्रमुख लक्षण चेतना माना गया है वहीं पुद्गल को जड़ एवं अचेतन कहा गया है। ये दोनों परस्पर पृथक् हो—

जीव

1. चेतन
2. अभौतिक
3. भोक्ता
4. अमूर्त
5. निरवयव

पुद्गल

1. अचेतन
2. भौतिक
3. भोग्य
4. मूर्त
5. सावयव

जब जीव और पुद्गल एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हो तो एक प्रश्न यह उठता है कि फिर दोनों में सम्बन्ध कैसे होता है? एक चेतन और दूसरा अचेतन आपस में कैसे मिल सकते हो? पूर्णतया विरोधी तत्त्व आपस में सहयोगी कैसे हो सकते हो? दो तत्त्वों के सम्बन्ध की समस्या हर द्वैतवादी दार्शनिकों की समस्या रही है। सांख्यदर्शन में प्रकृति और पुरुष के

सम्बन्ध को लेकर समस्या है। सांख्य दार्शनिक इस समस्या के समाधान के लिए संयोग सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए कहते हो—

“पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं च प्रधानस्य ।

पङ्गवन्धवदुभयोरपि संयोगः तत्कृतः सर्गः ।।”

अर्थात् प्रकृति अपने स्वरूप को प्रकट करना चाहती है और पुरुष मुक्त होना चाहता है, दोनों अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अंधे और लंगड़े की तरह आपस में मिलते हो तो सृष्टि की उत्पत्ति होती है। किंतु यह सम्बन्ध उपयुक्त नहीं माना जाता क्योंकि जिस दृष्टान्त से इस सम्बन्ध को पुष्ट किया गया है, वह दृष्टान्त उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है क्योंकि दृष्टान्त में दोनों (अंधे और लंगड़े) चेतन हो जबकि दृष्टान्त में एक जड़ (प्रकृति) और दूसरा चेतन (पुरुष) है अतः सम्बन्ध की समस्या सांख्य की जटिल समस्या रही है।

डेकार्ट ने भी आत्मा और शरीर को विरोधी मानकर क्रिया-प्रतिक्रियावाद के सम्बन्ध के आधार पर आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को समझाया है। किंतु क्रिया-प्रतिक्रियावाद के सम्बन्ध में अनेक कठिनाईयां दिखाई पड़ती हैं, जिसमें प्रमुख है कि आत्मा की क्रिया से जड़ शरीर प्रतिक्रिया के लिए क्यों प्रेरित होगा? शरीर की क्रिया का आत्मा से क्या सम्बन्ध है जिससे कि आत्मा प्रतिक्रिया के लिए प्रेरित होगा।

जैनदर्शन के अनुसार सम्बन्ध

जैनदर्शन के अनुसार जीव और पुद्गल या आत्मा और शरीर के सम्बन्ध में किसी प्रकार की समस्या नहीं है। भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने एक उदाहरण के द्वारा जीव और पुद्गल के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। तालाब में पानी है। उसमें सैकड़ों छिद्र वाली नौका है। जिस प्रकार वह नौका पानी से भर जाती है, वैसे ही जीव के छिद्र आस्रव हो, कर्मरूपी पानी उन आस्रव रूपी छिद्रों से भर जाता है। अर्थात् राग-द्वेष युक्त आत्मा के कर्म बंधते हो। कहा भी गया है—

“स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।

रागद्वेषविलिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येव ।।”

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध होता है। अन्य दर्शनों में इन्हें आपस में बिल्कुल विरोधी मानकर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते हो जबकि जैनदर्शन में इन्हें बिल्कुल विरोधी नहीं माना गया है अतः जैनदार्शनिक के समक्ष सम्बन्ध की समस्या नहीं है। इनके अनुसार जीव दो प्रकार के हो—मुक्त जीव एवं संसारी जीव। मुक्त जीव सर्वथा अमूर्त हो अतः उसका मूर्त शरीर से कभी सम्बन्ध स्थापित नहीं होता है। संसारी जीव मूर्त होता है। संसार में जीव और पुद्गल का सादृश्य है अतः उनका सम्बन्ध होना असंभव नहीं है। एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते समय स्थूल शरीर तो छूट जाता है किंतु सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता है। यही सूक्ष्म शरीर युक्त जीव ही दूसरा शरीर धारण करता है अतः दूसरे शरीर से सम्बंधित होता है। इस प्रकार यह सम्बंध तब तक चलता रहता है जब तक कि जीव पूर्णतया मुक्त नहीं हो जाता है अतः यह कहना उचित है कि आत्मा और शरीर में सर्वथा अभेद नहीं है, यदि

सर्वथा अभेद होता तो दोनों एक हो जाते। इनमें सर्वथा भेद भी नहीं है। सर्वथा भेद होने से ये कभी भी नहीं मिल सकते थे अतः अपने विशेष गुणों के कारण इनमें परस्पर भेद भी है और सामान्य गुणों के कारण परस्पर अभेद भी है अतः आत्मा और शरीर में भिन्नता और अभिन्नता दोनों हो इसलिए हम यह कह सकते हो कि संसारी अवस्था में आत्मा और शरीर दोनों मूर्त हो। आत्मा का शरीर से सम्बंध होने का तात्पर्य मूर्त का मूर्त से सम्बंध है न कि अमूर्त का मूर्त से। संसारावस्था में आत्मा का क्षीर-नीरवत् या अग्निलौहपिण्डवत् तादात्म्य होता है। जैनदर्शन इस सम्बंध को अनादि मानता है। जीव और शरीर का सम्बंध यहां प्रारंभ से माना गया है। इसकी कोई आदि नहीं है किंतु अन्त है। जब सूक्ष्म शरीर भी आत्मा से अलग हो जाता है तो जीव शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

अस्तु हम यह कह सकते हैं कि संसार में जितना सत्य चेतन तत्त्व है उतना ही सत्य अचेतन तत्त्व है। जिधर चित्त डाले उधर अचेतन तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। जैन दर्शन में इन्हें ही पुद्गल मानकर विस्तृत मीमांसा की गयी है। उपर्युक्त मीमांसा से पुद्गल के अर्थ, प्रकार, परमाणु के स्वरूप एवं जीव तथा पुद्गल के सम्बन्ध को अच्छी तरह समझा जा सकता है।

प्रमाण विचार

जैन दर्शन में यथार्थ ज्ञान को प्रमाण कहा गया है। प्रमाण दो माने गये हैं—1. प्रत्यक्ष और 2. परोक्ष। इन्हीं दो प्रमाणों से समस्त प्रमेयों का ज्ञान होता है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार—

प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्वे प्रमाणे तथा मते।

अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह।।

प्रत्यक्ष क्या है और परोक्ष क्या है? इसकी मीमांसा करते हुए आचार्य हरिभद्र लिखते हैं—

अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्।

प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया।।

1.10 जैन अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद

जैन दर्शन के अनुसार संसार की सभी वस्तुएं नित्य-अनित्य, चित्-अचित्, शाश्वत-अशाश्वत, सत्-असत् दोनों हैं। जैन दर्शन में वस्तुओं के अनेक धर्म होते हैं—“अनन्त धर्मकं वस्तु।” वस्तुओं के सभी धर्मों का ज्ञान हमें नहीं हो पाता। साधारण मनुष्यों को किसी वस्तु के एक ही धर्म का ज्ञान एक समय में होता है।

स्याद्वाद और सप्तभंगीनय जैन तर्कशास्त्र का सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। स्याद् का अर्थ सम्भावना नहीं क्योंकि स्याद्वाद न तो संशयवाद है और न तो अज्ञेयवाद ही। वास्तव में स्याद्वाद ज्ञान की सापेक्षता का सिद्धान्त है। प्रत्येक वस्तु अपने रूप, द्रव्य, क्षेत्र और काल के विचार से है और अन्य वस्तु के रूप, द्रव्य, क्षेत्र और काल के विचार से नहीं है अतः प्रत्येक वस्तु का ज्ञान सापेक्ष है।

जैनों के अनुसार सत् नित्य, क्षणिक अथवा भिन्न-भिन्न रूप में नित्य और अनित्य दोनों है। सत् सदैव परिवर्तनशील है। फिर भी उसका अपनापन कभी नष्ट नहीं होता। वह 'उत्पाद तथा व्यय में भी सदैव वर्तमान रहता है अतः प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म होते हैं। केवली को इन सभी धर्मों का अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है परन्तु साधारण मनुष्य एक समय में एक ही दृष्टि से देख सकता है अतः किसी तत्त्व पर विचार करने के लिए उसके अनेक धर्मों का विचार करना चाहिए। सत् को नित्य, अनित्य, चेतन, अचेतन, कूटस्थ और क्षणिक मानने के सिद्धान्त को अनेकान्तवाद कहते हैं। इसको परिणामी नित्यवाद भी कहा गया है। अनेकान्तवाद एक सिद्धान्त है और स्याद्वाद एक शैली है। इसे अभिव्यक्ति का माध्यम भी कहा जा सकता है।

जैनों के अनुसार किसी वस्तु को तीन प्रकार से जाना जा सकता है। जिस ज्ञान में अंश को पूर्ण मान लिया जाय उसको दुर्नय कहते हैं। जब ज्ञान को अंश अथवा पूर्ण कुछ भी न कहकर जैसा है वैसा ही रखा जाता है तो वह नय कहलाता है। जब किसी भी ज्ञान के साथ यह भी ज्ञान रहता है कि वह सीमित सापेक्ष और सोपाधि है तथा उसकी भिन्न-भिन्न दृष्टि की जैसे व्याख्या हो सकती है तब वह 'प्रमाण' या 'स्यात् सत्' कहलाता है। प्रमाण होने के लिए प्रत्येक नय में स्यात् विशेषण आवश्यक है। स्यात् सत्य का लक्षण कहा जाता है। वह सापेक्ष है, उसमें आपेक्षिक ज्ञान है, वह विभिन्न दृष्टिकोण के विरोध को हटा देता है। स्याद्वाद को छोड़ने का अर्थ एकान्तवाद को ग्रहण करना है जो कि सभी अनुभवों के विरुद्ध है।

हममें दृष्टिकोण के भेद तभी उत्पन्न होता है जब हम अपने दृष्टिकोण को सर्वदा सत्य मानते हैं। एक नय से यह विचार है, किन्तु आवश्यक नहीं कि दूसरे नय से भी यही हो। इस सिद्धान्त को भूलना ही हमारे मतभेद का कारण है। स्याद्वाद को समझाने के लिए जैन दर्शन हाथी और अन्धों का उदाहरण दिया गया है। छः अन्धे एक हाथी का आकार जानना चाहते हैं। वे अपने हाथों को हाथी के शरीर के भिन्न-भिन्न भागों पर रखते हैं। प्रत्येक अन्धा उसी भाग को ही पूरा हाथी समझ लेता है। इस प्रकार कोई पूंछ, कोई कान और कोई सूंड और कोई मस्तक तथा कोई पेट इत्यादि पकड़ते हैं और हाथी के विषय में अपना-अपना मत प्रकट करते हैं। कोई हाथी को पंखे जैसा बतलाता है तो कोई खम्भे जैसा, कोई अजगर जैसा बतलाता है तथा कोई रस्सा जैसा। जिसने पेट छुआ, वह हाथी को दीवार जैसा बतलाता है। उनमें से प्रत्येक सोचता है कि उसी का ज्ञान सब कुछ है और बाकी सब गलत है।

इसी प्रकार सभी दार्शनिक मत अपनी-अपनी हांकते हैं और दूसरों के सिद्धान्त को असत्य ठहराते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में आंखों वाला व्यक्ति जानता है कि सभी अन्धे हैं और सभी झूठे हैं। अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रत्येक दर्शन सत्य है परन्तु दूसरे को झूठा ठहराने वाला अथवा अपने मत को ही एक मात्र सत्य समझने वाला दर्शन झूठा है। आधुनिक वस्तुवादियों ने इसी को एकान्तवाद का दोष कहा है।

जैन दार्शनिकों का कहना है कि दार्शनिकों के बीच मतभेद का कारण है-दृष्टिभेद। संसार के सभी दर्शन सत्य हैं, किन्तु जब उनके आंशिक सत्य को लेकर शेष रूप की

अवहेलना की जाती है, तो वह सत्य भी असत्य हो जाता है। स्याद्वाद के अनुसार सभी व्यक्तियों को अपने-अपने दृष्टिकोण को सही समझना चाहिए, परन्तु विरोधी दृष्टिकोण को भी समझना चाहिए। जैन दर्शन में स्याद्वाद के अनेक व्यवहारिक उदाहरण भी दिये जाते हैं। संसार में एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, चाचा, भतीजा आदि सब कुछ है अतः एक ही व्यक्ति में जैसे अनेक धर्म हुए, उसी तरह एक ही पदार्थ में नित्य और अनित्य विभिन्न धर्म रहते हैं। एक व्यक्ति अपने पिता का पुत्र है और अपने पुत्र का पिता है। पदार्थों के सम्बन्ध में ठीक यही बात है।

अतः अनेकान्तवाद के अनुसार वस्तु अनेक धर्मात्मक है। स्याद्वाद अभिव्यक्ति की एक शैली है। स्याद्वाद दो शब्दों से मिलकर बना है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ है 'कथंचित' किसी प्रकार से और वाद का अर्थ है सिद्धान्त अतः स्याद्वाद वह है जो वस्तु के तत्त्व निर्णय में अपेक्षा की प्रधानता पर जोर देता है। इस स्याद्वाद को अनेकान्तवाद या अपेक्षावाद भी कहा गया है। जैन दार्शनिक इसे स्याद्वाद इसलिए कहते हैं कि वे किसी वस्तु को निरपेक्ष रूप में स्वीकार या अस्वीकार नहीं करते अतः प्रत्येक न्यायवाक्य के पहले स्यात् शब्द का प्रयोग करते हैं। स्यात् शब्द यह बताता है कि उस वाक्य की सत्यता प्रसंग विशेष पर निर्भर करती है। अन्य प्रसंगों में वह असत्य भी हो सकती है। हम यह नहीं कह सकते कि एक व्यक्ति केवल पिता है हम कह सकते हैं कि 'स्यात् वह पिता है' 'स्यात् वह पुत्र है' आदि। 'स्यात्' से यह संकेत मिलता है कि वह व्यक्ति किसी सम्बन्ध विशेष, काल विशेष में पिता है। इसी प्रकार प्रत्येक न्यायवाक्य किसी अवस्था विशेष में ही सत्य हो सकता है।

जैनों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से परामर्श के सात भेद किये हैं। जिस परामर्श में किसी वस्तु के साथ उसके अपने धर्म या लक्षण का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। उसको अस्तिवाचक परामर्श कहते हैं। जिस परामर्श में किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु के धर्म या लक्षण के साथ सम्बन्धाभाव दिखलाया जाता है उसे नास्तिवाचक परामर्श कहते हैं। ये सात प्रकार के परामर्श (नय) निम्नलिखित हैं—

1. स्यात् अस्ति : प्रथम परामर्श यह है कि किसी एक दृष्टि से उस वस्तु की सत्ता हो सकती है। उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाता है कि स्यात् घड़ा है तो इसका अर्थ यह होगा कि किसी विशेष देश, काल, क्षेत्र और रूप प्रसंग में घड़ा है।

2. स्यात् नास्ति : परन्तु किसी दूसरे देश, काल अथवा रूप के प्रसंग में घड़े के विषय में नास्ति बोधक परामर्श होगा। उदाहरण के लिए यदि घर में रखे किसी घड़े के प्रसंग में यह कहा जाता है कि वह है तो उसी घर के प्रसंग में उसका होना सिद्ध होता है। घर के बाहर उस घड़े का अस्तित्व नहीं होगा परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि घर के बाहर किसी अन्य रूप का घड़ा नहीं हो सकता। यह परामर्श एक विशेष काल के प्रसंग में है। कई काल पहले अथवा कुछ काल पश्चात् उस घड़े का होना आवश्यक नहीं है।

3. स्यात् अस्ति च नास्ति च : एक अन्य दृष्टिकोण से उसी समय वस्तु की सत्ता हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है अतः 'ऐसी अवस्था में स्यात् है और नहीं है' यह परामर्श होगा।

4. स्यात् अवक्तव्यम् : जिस परामर्श में परस्पर विरोधी गुणों के सम्बन्ध में एक साथ विचार करना हो उसके विषय में स्यात् अवक्तव्यं परामर्श होगा। यह चौथा परामर्श माना गया है। घड़े के उदाहरण में यह परामर्श तब होता है जबकि न तो उसके होने और न होने के विषय में ही ठीक प्रकार से कहा जा सकता हो। घड़े का रूप कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि न उसे स्यात् सफेद कहा जा सके और न काला ही।

दार्शनिक दृष्टि से चौथे रूप का महत्व निम्न है—

(अ) इसके अनुसार किसी वस्तु का क्रमिक वर्णन भिन्न-भिन्न दृष्टियों से हो सकता है, एक साथ विरोधी धर्मों के द्वारा किसी वस्तु का वर्णन नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से उसको अवक्तव्य कहा जायेगा।

(ब) सभी प्रश्नों का ही या नहीं में उत्तर नहीं दिया जा सकता। ऐसे भी अनेक प्रश्न हैं जिनका कोई उत्तर नहीं हो सकता।

(स) विरोध एक दोष है। परस्पर विरुद्ध धर्म किसी एक वस्तु के लिए एक साथ प्रयुक्त नहीं हो सकते।

5. स्यात् अस्तित्व अवक्तव्य—शेष तीन नय क्रमशः चौथे को पहले, दूसरे तथा तीसरे नय में जोड़ने से प्राप्त होते हैं। पांचवा नय पहले और चौथे को जोड़ने से प्राप्त होता है। इस प्रकार पांचवें दृष्टिकोण से वस्तु एक ही समय में हो सकती है और फिर भी अवक्तव्य रह सकती है। किसी विशेष दृष्टि से घड़े को लाल कहा जा सकता है परन्तु जब दृष्टि का स्पष्ट निर्देश न हो तो घड़े के रंग का वर्णन असम्भव हो जाता है अतः व्यापक दृष्टि से घड़ा लाल है और अवक्तव्य भी है।

6. स्यात् नास्ति च अवक्तव्यं च दूसरे और चौथे नय को क्रमिक रूप से जोड़ने पर छठा नय बनता है। इसके अनुसार किसी एक विशेष दृष्टिकोण से किसी वस्तु के विषय में नहीं कह सकते हैं परन्तु दृष्टि स्पष्ट न होने पर कुछ नहीं कह सकते अतः व्यापक दृष्टि से घड़ा लाल नहीं है और अवक्तव्य है।

7. स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च इसी प्रकार क्रमशः तीसरे और चौथे नयों को जोड़कर सातवां नय बनता है। इसके अनुसार एक दृष्टि से घड़े का रंग लाल है। दूसरी से लाल नहीं है और जब दृष्टिकोण स्पष्ट न हों तो अवक्तव्य है। इस परामर्श के अनुसार स्यात् है, नहीं है और अवक्तव्य है।

किसी वस्तु में अनेक धर्म हो सकते हैं परन्तु उससे किसी भी धर्म के विषय में उपर्युक्त सात प्रकार के परामर्श ही हो सकते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की कल्पना की जा सकती है। जैन दर्शन वस्तुवादी और सापेक्षवादी हैं। जैन दर्शन के अनुसार विचार परामर्श मानसिक प्रत्यय मात्र नहीं है, बल्कि उनके द्वारा बाह्य वस्तुओं के वास्तविक धर्मों को

जाना जा सकता है। कोई भी प्रत्यय सत्य तभी होगा जबकि वह बाह्य वस्तु के धर्म को व्यक्त करे। ज्ञान सापेक्ष है वस्तु फिर भी वह मन पर निर्भर न होकर वस्तुओं के धर्मों पर ही निर्भर है।

आलोचना :

जैनो के स्यादवाद की अन्य दार्शनिक विचारकों ने कटु आलोचना की है।

1. परस्पर विरोधी सिद्धान्त—बौद्ध और वेदान्तियों ने स्यादवाद को एक परस्पर विरोधी सिद्धान्त कहा है। उन्होंने स्यात् शब्द का अर्थ सम्भावना लगाया है। इसी कारण यह आलोचना सम्भव हो सकी है। एक ही वस्तु एक ही अर्थ में 'है' और 'नहीं' दोनों नहीं हो सकता। धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और शंकराचार्य सभी ने स्यादवाद को पागलों का प्रलाप बतलाया है। रामानुज के अनुसार सत्ता और निसत्ता के समान परस्पर विरुद्ध धर्म प्रकाश और अन्धकार के समान एकत्रित नहीं किये जा सकते। परन्तु स्यादवाद का जो स्पष्टीकरण पीछे किया जा चुका है उससे यह स्पष्ट है कि बौद्ध और वेदान्तियों की आलोचना स्यादवाद के विषय में अज्ञान की परिचायक है। अनेकान्तवादियों के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म हैं जबकि द्रव्य की दृष्टि से वह एक, सत् और नित्य है, पर्याय की दृष्टि से यही अनेक, असत् और अनित्य है। अपने द्रव्य, रूप, काल और क्षेत्र के दृष्टिकोण से वस्तु को सत् माना गया है और दूसरे के द्रव्य रूप, काल और क्षेत्र की दृष्टि से असत् तब उसमें विरोध की कहां जगह है। एक वस्तु को एक दृष्टिकोण से नहीं बल्कि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से सद-असद, सद सद और अनिर्वचनीय कहा गया है। इस सत्य को न समझकर काल्पनिक विरोधों के भय से सापेक्ष को एकान्तिक मानकर मूर्ख लोग वास्तविक सत्य को भूल जाते हैं।

2. सापेक्षवाद स्वयं सापेक्ष है

परन्तु शंकराचार्य का एक दूसरा आक्षेप स्यादवाद का एक यथार्थ दोष बतलाता है। इस तर्क के अनुसार यदि हर एक चीज सम्भावित मात्र है तो स्यादवाद स्वयं भी केवल एक सम्भावना है। वास्तव में अनेकान्तिकता का सिद्धान्त एकान्तिकता के बिना नहीं रह सकता। सापेक्ष, निरपेक्ष पर आधारित है। एक निरपेक्ष के बिना स्यादवाद के सातों नय बिखरे हुए रहते हैं। जैन एकान्तिकता और अनेकान्तिकता दोनों को मानते हैं, परन्तु इसमें किसी प्रकार का समन्वय नहीं करते। वास्तव में आंशिक सत्य के साथ आंशिक असत्य भी छिपा है। जब सभी सिद्धान्त एक विशेष दृष्टि से ही सत्य हैं, तब जैन दर्शन सभी दृष्टियों से सत्य कैसे हो सकता है। सभी सत्य सापेक्ष है तो जैनमत निरपेक्ष सत्य कैसे है? जैन अनिर्वचनीय के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। पर स्यादवाद के चौथे नय में अवक्तव्य अनिर्वचनीय ही है। वास्तव में कभी-कभी जैन स्वयं निरपेक्षवाद का समर्थन करते हैं। परन्तु स्यादवाद की पुष्टि करते समय उसको भूल जाते हैं।

3. अन्तिम तीन नय, प्रथम चार की पुनरावृत्ति मात्र है

स्यादवाद के सात नयों में से बाद के तीन नये पहले चार की केवल पुनरावृत्तियों सी प्रतीत होते हैं। कुमारिल भट्ट का आक्षेप है कि इस प्रकार सात के स्थान पर सौ नय भी हो सकते हैं।

उपर्युक्त आलोचनाएं अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के यथार्थ को समझें बिना प्रतीत होती है, अतः पूर्ण सत्य नहीं है।

1.11 निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन एक विस्तृत दर्शन है जिसमें जैन सत्या, जैन तत्त्वों एवं जैन द्रव्यों के विवेचना के साथ-साथ इसके अत्यन्त प्रभावी सिद्धान्त अनेकान्तवाद और स्याद्वाद की भी विवेचना की गयी हैं। इनके माध्यम से सभी प्रकार के आग्रहों पूर्वोग्रहों मताग्रहों आदि का शमन होता है और समस्याओं को समाधान मिलता है।

1.12 अभ्यास के प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. जैन दर्शन में तत्त्व की विवेचना करते हुए, उसके प्रकारों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

पुद्गल के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए, उसकी अवस्थाओं पर प्रकाश डालिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. पुद्गल के प्रकारों की व्याख्या कीजिए।
2. संवर और निर्जरा में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. जीव और अजीव मूल तत्त्व हो, तर्क द्वारा सिद्ध कीजिए।
4. अस्तिकाय की विवेचना कीजिए।
5. काल के स्वरूप एवं भेद को स्पष्ट कीजिए।
6. आकाशास्तिकाय के स्वरूप को समझाइये।
7. जीव सिद्धि के तर्कों को स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अचित्त महास्कन्ध किसे कहते हो?
2. पाश्चात्य परमाणुवादियों के नाम बताइये।
3. जैन परमाणु स्वतः गतिशील हो या अगतिशील?
4. संस्थान के कितने प्रकार हो?
5. वर्गणा से क्या तात्पर्य है?
6. "गुण पर्यायाश्रयो द्रव्यम्" किस ग्रन्थ की परिभाषा है?
7. जैनदर्शन में सामान्य गुण कितने माने गये हो?
8. धर्म का विशेष गुण क्या है?
9. त्रस का क्या अर्थ है?

10. जैनदर्शन में उपयोग का क्या अर्थ है?

1.13 अध्ययन हेतु सुझाये गये अन्य ग्रन्थ

1. षड्दर्शनसमुच्चय—हरिभद्रसूरि
2. तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाती
3. जीव—अजीव—आचार्यश्री महाप्रज्ञ
4. जैन सिद्धान्त दीपिका—आचार्य तुलसी
5. जैन दर्शन—मनन और मीमांसा—आचार्यश्री महाप्रज्ञ
6. जैन दर्शन में आत्मा विचार—डॉ. लालचन्द जैन
7. जैन तत्त्वमीमांसा—डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

इकाई—८

सांख्य दर्शन

ईश्वरकृष्ण एवं सांख्यकारिका

संरचना:—

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 भूमिका
- 2.2 ईश्वरकृष्ण एवं सांख्यकारिका परिचय
- 2.3 सत्कार्यवाद का सिद्धान्त
- 2.4 सांख्यदर्शन में प्रकृति
 - 2.4.1 प्रकृति के गुण
 - 2.4.2 प्रकृति के अस्तित्व की सिद्धि
- 2.5 सांख्यदर्शन में पुरुष
 - 2.5.1 पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि
 - 2.5.2 पुरुष की अनेकता
- 2.6 प्रकृति—पुरुष सम्बन्ध और विकासवाद
- 2.7 मोक्ष विचार
 - 2.7.1 मोक्ष के प्रकार
- 2.8 प्रमाण विचार
- 2.9 निष्कर्ष
- 2.10 अभ्यास के प्रश्न
- 2.11 अध्ययन हेतु कुछ ग्रंथों के नाम

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य इस प्रकार हैं—

1. सांख्य कारण—कार्यवाद सिद्धान्त का ज्ञान हो सकेगा।
2. सांख्य दर्शन के पुरुष और प्रकृति विचार का ज्ञान हो सकेगा।
3. पुरुष की अनेकता का ज्ञान होगा।
4. सांख्य सृष्टि विचार अथवा विकासवाद को समझा जा सकेगा।
5. सांख्य के द्वैतवादी समस्या का समाधान हो सकेगा।
6. सांख्य दर्शन में मोक्ष विचार का ज्ञान हो सकेगा।

7. सांख्य दर्शन के प्रमाण सम्बन्धी जानकारी का ज्ञान हो सकेगा।

2.1 भूमिका

सांख्य दर्शन एक अत्यंत प्राचीन दर्शन है क्योंकि इसका उल्लेख श्रुतियों, स्मृतियों, रामायण, महाभारत आदि पुरातन ग्रंथों में देखा जाता है। इस दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं जिनके अनेक विवरण प्राचीन ग्रंथों में प्राप्त होते हैं।

सांख्य दर्शन का मूलभूत ग्रंथ है महर्षि कपिल विरचित सांख्य सूत्र एवं तत्त्व समास। उनके शिष्य पंचशिखाचार्य थे जिनका ग्रंथ षष्टितंत्र था परंतु इन ग्रंथों के अनुपलब्ध होने के कारण वर्तमान समय में सांख्य दर्शन का आधार ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिका है। इस सांख्यकारिका पर माठराचार्य ने माठरवृत्ति, गौडपादाचार्य ने गौडपाद भाष्य, शंकराचार्य ने जयमंगला एवं बाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्व कौमुदी लिखी है। इसके अतिरिक्त विज्ञानभिक्षु का सांख्यप्रवचनभाष्य तथा सांख्यसार ग्रंथ महत्वपूर्ण है।

सांख्य शब्द का अर्थ संख्यावाची और ज्ञानवाची है। संख्य शब्द का संख्या अर्थ इस रूप में उपयुक्त है क्योंकि यहां चौबीस तत्त्वों की संख्या पर प्रकाश डाला गया है। ये चौबीस तत्त्व मुख्य रूप से प्रकृति और पुरुष में समाहित हैं अतः प्रकृति और पुरुष का एक दूसरे का ज्ञान हो जाना ही सांख्य के ज्ञान सूचक अर्थ को अभिव्यक्त करता है।

2.2 ईश्वरकृष्ण एवं सांख्यकारिका का परिचय

ईश्वरकृष्ण सांख्य दर्शनकार थे। इनका काल विवादग्रस्त है। डॉ० तकाकुसू के अनुसार उनका समय 450 ई. के लगभग और डॉ० वि. स्मिथ के अनुसार 240 ई. के आसपास होना चाहिए। यह प्रायः निश्चित है कि वे बौद्ध दार्शनिक वसुबंधु के गुरु के समकालीन एवं प्रतिपक्षी थे। ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका सांख्य दर्शन पर उपलब्ध सर्वाधिक प्राचीन एवं लोकप्रिय ग्रंथ है।

‘कारिका’ में ईश्वरकृष्ण अपने को क्रमशः आसुरि एवं पंचशिखाचार्य के द्वारा सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कपिल का शिष्य बताते हैं। वह मूलतः अनीश्वरवादी हैं। उनके अनुसार आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दुःखों से उनके निराकरण के उपायों की खोज आरंभ होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द यथार्थ ज्ञान के स्रोत हैं। इन ज्ञानस्रोतों से ‘प्रकृति’ और ‘पुरुष’ की नित्यता एवं मूलत्व सिद्ध होता है। मूल ‘प्रकृति’ की सूक्ष्मता से उसका ज्ञान असंभव है, किंतु अपनी ‘विकृति’ (परिणाम) महत् आदि के रूप में वह बोधगम्य है। ‘परिणाम’, चूँकि उत्पन्न होता है, अनित्य, असम तथा गतियुक्त है, ईश्वरकृष्ण के अनुसार सुख-दुःख-मोह का स्वभाव ‘प्रकृति’ का है, पुरुष का नहीं अतः मोक्ष ‘प्रकृति’ का होता है, पुरुष का नहीं। सत्त्व, रज तथा तम त्रिगुण प्रकृति के हैं और क्रमशः सात्विकता, क्रिया तथा जड़ता के कारण इन गुणों का कार्य दीपक की तरह मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना है। ईश्वरकृष्ण ‘पुरुष’ को अचेतन प्रकृति का ‘विपर्यय’ बताते हैं, अतः ‘पुरुष’, ‘प्रकृति’ की अचेतन क्रियाओं का चेतन द्रष्टा (साक्षी) है, कर्ता नहीं। ‘पुरुष’ का अस्तित्व शरीरसंघात के परार्थत्व, अधिष्ठान और मोक्ष प्रकृति से सिद्ध है। साथ ही, जन्म मरण एवं उपकरणों के असाम्य और

एक साथ प्रकृति के अभाव से 'पुरुष' का अनेकत्व भी सिद्ध है। सारांश में, पुरुष की सांसारिक अवस्था प्रकृति की क्रियाओं के प्रति उसकी मोहदृष्टि तथा 'कैवल्य' (मोक्ष) की अवस्था प्रकृति से 'निवृत्ति' या प्रकृति के स्व-स्वरूप का पृथक्त्व ज्ञान है।

2.3 सत्कार्यवाद का सिद्धांत

सांख्य दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत सत्कार्यवाद है। दूसरे अर्थों में इसे कारण—कार्य का सिद्धांत कहा जा सकता है। सांख्य दार्शनिकों के अनुसार सत्कार्यवाद का अर्थ है—कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में निहित रहता है। जैसे मिट्टी का घड़ा अपनी उत्पत्ति के पूर्व मिट्टी में समाहित रहता है। यदि वह मिट्टी में समाहित नहीं होता तो मिट्टी से घड़े की उत्पत्ति कथमपि संभव नहीं होता। इसी सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिए सांख्य दार्शनिक ने कुछ तर्क दिए हैं। ईश्वरकृष्ण की संख्यकारिका में सत्कार्यवाद को सिद्ध करते हुए कहा गया है—

असतकरणादुपादानग्रहणात् सर्व संभवाभावात् ।

शक्तस्यशक्यकरणात् कारण भावाच्च सत्कार्यम् ।

सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिए ये पांच तर्क इस प्रकार हैं—

1. असतकरणात्— यदि कारण को असत मानते हैं तो कार्य की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि असत से सत संभव नहीं है। बालू से तेल नहीं निकाला जा सकता क्योंकि बालू के कणों में तेल का अभाव है। इसी प्रकार पानी में दही का अभाव होने से पानी से दही नहीं जमाया जा सकता अतः कार्य का अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में निहित रहना आवश्यक है।

2. उपादानग्रहणात्— किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिए उपादान कारण की जरूरत पड़ती है। उपादान कारण के अभाव में किसी भी कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है। मिट्टी के घड़े का उपादान मिट्टी है, सोने के घड़े का उपादान सोना है, लकड़ी की मेज का उपादान लकड़ी है, दही का उपादान कारण दूध है। इन सभी कार्यों की उत्पत्ति के लिए उपादान कारण आवश्यक है।

3. सर्वसंभवाभावात्— अर्थात् सबसे सब संभव नहीं है। जिस कारण में जो कार्य निहित है उससे उसी की उत्पत्ति संभव है। बालू से तेल संभव नहीं है क्योंकि बालू में तेल निहित नहीं है। सोने से मिट्टी का घड़ा संभव नहीं है क्योंकि सोने में मिट्टी का घड़ा निहित नहीं है इसलिए यह कहना प्रासंगिक है कि सब कारणों से सब कार्य संभव नहीं है।

4. शक्तस्यशक्यकरणात्— जिसमें जिस कार्य की उत्पत्ति की क्षमता संभव है, उससे वही कार्य उत्पन्न हो सकता है, जिसमें जो निहित ही नहीं है, वह उससे कैसे संभव है?

5. कारणभावाच्च— कारण और कार्य में भेद नहीं है। दोनों में अभेद संबंध है। कार्य कारण की व्यक्तावस्था है और कारण कार्य की अव्यक्तावस्था है अतः कारण और कार्य में कोई भेद नहीं है, सिर्फ अवस्था का भेद है। कछुए के उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया गया

है। कछुआ जब अपने अंग को बाहर निकलता है तो इससे कार्य की अभिव्यक्ति होती है। जब कछुआ अपने अंग को अंदर समेटे रहता है तो इससे कारण की अभिव्यक्ति होती है।

सांख्य दार्शनिक किसी तत्त्व की उत्पत्ति को नहीं मानते हैं। वह केवल अभिव्यक्ति में विश्वास करते हैं। तात्पर्य है कि जो तत्त्व कारण में निहित रहता है, उसी की अभिव्यक्ति कार्य में होती है। सत्कार्यवाद के दो भेद किए जाते हैं—1. परिणामवाद 2. विवर्तवाद

परिणामवाद का तात्पर्य है कारण का कार्य में वास्तविक परिवर्तन होना। दूध का दही होना, तिल का तेल बनना, यह वास्तविक परिणाम है। यही परिणामवाद है—यह दो प्रकार का है प्रकृति परिणामवाद और ब्रह्म परिणामवाद। प्रकृतिपरिणामवाद से तात्पर्य सारा संसार प्रकृति तत्त्व का परिणाम है। यह मान्यता सांख्य दार्शनिकों की है। ब्रह्म परिणामवाद के अनुसार यह संसार ब्रह्म का परिणाम है जिसे रामानुज मानते हैं। विवर्तवाद का मतलब है कारण का कार्य के रूप में वास्तविक परिवर्तन न होकर केवल आभास करना है। रस्सी में सर्प आभास मात्र है अतः यह विवर्त रूप है। विवर्तवाद की मान्यता के पोषक आचार्य शंकर हैं।

बोध प्रश्न

1. सांख्यकारिका के रचनाकार का नाम लिखिए।
2. सत्कार्यवाद के कितने भेद हैं?

2.3 सांख्य दर्शन में प्रकृति

सांख्य दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। द्वैतवाद से तात्पर्य है—दो नित्य, शाश्वत, स्वतंत्र एवं निरपेक्ष सत्ता को स्वीकार करना। इस प्रकार की दो सत्ता स्वीकार करने वाले दार्शनिक को द्वैतवादी कहते हैं क्योंकि सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष यह दो सत्ता स्वीकार किए गए हैं इसलिए सांख्य दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। इनमें प्रथम सत्ता है प्रकृति। जैसा कि नाम से स्पष्ट है यह सत्ता सब कुछ करने वाली है। प्रकृति को सांख्य दर्शन में मूल कारण माना गया है। सब कुछ इसी से उत्पन्न होता है। इसे अन्य कई नामों से भी जाना जाता है। सब कुछ इसी का परिणाम है, अतः इसे 'परिणामिनी' कहा जाता है। यह 'त्रिगुणात्मिका' भी कहलाती है क्योंकि यह सत, रज और तम तीन गुणों से युक्त है। संपूर्ण सृष्टि को उत्पन्न करना यह अपना धर्म समझती है इसलिए इसे 'प्रसवधर्मि' भी कहा गया है। संसार का प्रथम सिद्धांत होने के कारण इसे 'प्रधान' भी कहा गया है। संपूर्ण संसार का मूल दृष्टिगोचर न होने के कारण इसे 'अव्यक्त', भी कहा गया है। संपूर्ण संसार को उत्पन्न करने का सामर्थ्य होने के कारण इसे 'शक्ति' भी कहा गया है। जड़ तत्त्व होने के कारण इसे 'अचेतन' भी कहा गया है। समस्त विकारों को उत्पन्न करने के कारण इसे 'प्रकृति', ज्ञान विरोधी होने के कारण 'अविद्या' और विचित्र सृष्टि के निर्माण करने के कारण के रूप में इसे 'माया' भी कहा गया है।

कहा भी गया है—

'प्रकृतिरित्युच्यते विकारोत्पादकत्वात्, अविद्या ज्ञानविरोधित्वात्, माया सृष्टि करणत्वात्'।

कभी उत्पन्न न होने के कारण इसे 'अनादि' और 'अजा' कहा गया है कभी नष्ट न होने के कारण इसे 'अविनाशिनी' भी कहा गया है। इस प्रकार इसे विविध नाम से जाना जाता है।

2.3.1 प्रकृति के गुण

जहां तक प्रकृति की परिभाषा की बात है। इसकी परिभाषा देते हुए यह कहा गया है—'गुणानाम साम्यावस्था प्रकृति' अर्थात् तीन गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है। सत, रज और तम यह तीन गुण हैं। जब सतोगुण, सत में रजोगुण, रज में और तमोगुण तम में रहता है तो इसी को साम्यावस्था कहा गया है अर्थात् जब गुण अपने आप में निहित रहते हैं तब इनकी साम्यावस्था होती है और जब ये गुण एक दूसरे को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं तो इनकी विषम अवस्था शुरू होती है किंतु जब गुण साम्यावस्था में रहते हैं तब इसे प्रकृति कहा गया है। प्रकृति के तीन गुण हैं— सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण। ये गुण सूक्ष्म और अगोचर हैं। इनके अस्तित्व का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता है क्योंकि यह दिखाई नहीं पड़ते हैं, फिर भी इन गुणों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है क्योंकि इन गुणों का अनुमान होता है। उनके विशिष्ट धर्म को जानकर हम इनका अनुमान करते हैं। सुख—दुख और मोह ये इनके धर्म हैं। संसार की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो इन तीनों धर्मों से रहित हो अर्थात् संसार की प्रत्येक वस्तु में ये तीनों गुण निहित रहते हैं। इनके अतिरिक्त प्रकृति का कोई अस्तित्व नहीं है। ये गुण प्रकृति के स्वभाव नहीं, अपितु प्रकृति के स्वरूप हैं। इन तीन गुणों की अपनी—अपनी विशेषताएं हैं। सतोगुण लघु और प्रकाशक है। यह गुण बहुत हल्का और प्रकाश देने वाला होता है, रजोगुण दुःख और उत्तेजना देने वाला होता है तथा तमोगुण भारी और बाधा उत्पन्न करने वाला होता है। सांख्यकारिका में कहा गया है—

सत्त्वमलघुप्रकाशकमिष्टमुपसष्टम्भकम चलंच रजः।

गुरुवरणकम एवं तमः, प्रदीप्तपत चार्थतो वृत्तिः॥

अर्थात् सतोगुण लघु और प्रकाश देने वाला है, रजोगुण कष्ट और उत्तेजना देने वाला है, तमोगुण निद्रा, तंद्रा और आलस्य प्रदान करने वाला है। आगे यह भी कहा गया है—

प्रीत्याप्रीतिविषादात्मका प्रकाशप्रवृत्ति नियमार्थाः।

अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।

अर्थात् सतोगुण प्रेम उत्पन्न करने वाला है, रजोगुण अप्रसन्नता देने वाला है और तमोगुण विषाद रूप है। सतोगुण प्रकाश देता है, रजोगुण सक्रिय करता है और तमोगुण अवरोधक बनता है। इन तीनों गुणों के अलग—अलग धर्म होने के बावजूद भी ये तीनों एक दूसरे से दीपक के अंगों की तरह मिलते हैं, जैसे दीपक में तेल, बाती और ज्वाला तीनों अलग—अलग हैं। उनके धर्म अलग—अलग हैं। तीनों एक दूसरे के विरोधी हैं। लेकिन फिर भी तीनों मिल करके जैसे प्रकाश देते हैं, वैसे ही प्रकृति के तीनों गुण मिलकर के संसार की व्यवस्था देने में सहयोग करते हैं। संसार की कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें इन तीनों गुणों का अभाव हो। प्रत्येक व्यक्ति में ये तीनों गुण पाए जाते हैं। व्यक्ति में तीनों गुण देखे नहीं जाते हैं किंतु

अपने धर्म के कारण तीनों गुणों का अनुमान लगता है। जब व्यक्ति उल्लास और आनंद में होता है तो यह समझ लेना चाहिए कि उसके अंदर के सतो गुण ने रज और तमोगुण को दबा दिया है और अपना अखंड साम्राज्य बना लिया है। यदि व्यक्ति दुःखी होता है और उसके भाव क्षण में परिवर्तित होते रहते हैं, वह छोटी से छोटी बात पर उत्तेजित होता रहता है तो यह समझ लेना चाहिए उसके अंदर के रजोगुण द्वारा सतो गुण और तमोगुण को दबा दिया गया है। यदि व्यक्ति सदैव आलस्य, तंद्रा और निद्रा में रहता है, शरीर उसका भारी महसूस होता है, कुछ काम करने का मन नहीं करता है, वह कुंठा और ग्लानि में रहता है तो समझ लेना चाहिए कि उसके अंदर के तमोगुण ने सतो और रजोगुण को प्रभावित कर तथा उन्हें दबाकर अपना राज्य स्थापित कर लिया है। इससे स्पष्ट होता है की तीनों गुण सब में हैं किंतु उनकी प्रधानता समय-समय पर बदलती रहती है।

2.3.2 'प्रकृति के अस्तित्व की सिद्धि—'

सांख्य कारिका में प्रकृति के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए ईश्वरकृष्ण कहते हैं—

भेदानामपरिमाणात् समन्वयात् शक्तिः प्रवृत्तेश्च ।

कारणकार्यविभागादभिभागात् वैश्वरूप्यस्य ।

1. भेदानाम परिमाणात्—

भेदानाम से तात्पर्य है प्रकृति से उद्भूत होने वाले विनाशी तत्त्वों से और परिमाणात् से तात्पर्य है सीमा से, अर्थात् प्रकृति से उद्भूत सभी तत्त्व सीमित हैं, नष्ट होने वाले हैं। ये तत्त्व महत्, अहंकार, पंचतन्मात्र एवं पंच महाभूत हैं। ये सभी तत्त्व सीमित हैं। इन सीमित तत्त्वों का कारण एक ऐसा तत्त्व होना चाहिए जो उत्पत्ति और विनाश से परे हो और वह तत्त्व है सांख्य की प्रकृति।

2. समन्वयात्—

जब हम संसार की प्रत्येक वस्तुओं पर दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि उनमें सुख-दुख और मोह पाया जाता है। प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों पाया जाता है? प्रत्युत्तर में यह देखने को मिलता है कि सुख का कारण सतोगुण है, दुःख का कारण रजोगुण है और मोह का कारण तमोगुण है। ये तीनों गुण प्रकृति में निहित हैं अतः संसार के प्रत्येक तत्त्व में जो सुख-दुख मोह का समन्वय दिखलाई पड़ता है उसके मूल कारण पर विचार करें तो स्पष्ट उत्तर मिलता है कि वह मूल कारण सांख्य की प्रकृति है।

3. शक्तिः प्रवृत्तेश्च—

सभी कार्य ऐसी ही शक्ति से उत्पन्न होते हैं जिसमें वह मूल रूप में निहित रहता है अर्थात् कारण की शक्ति से ही कार्य उत्पन्न होता है। जिस कारण में जो अवस्थित रहता है वही उससे निर्गत होता है जिस प्रकार मिट्टी के घड़े को उत्पन्न करने वाला मिट्टी का पिंड होता है, वस्त्र को उत्पन्न करने वाला तंतु होता है और तेल को उत्पन्न करने वाला तिल होता है। इस प्रकार महत्, अहंकार, पंच तन्मात्र और पंचमहाभूत को उत्पन्न करने वाला जो तत्त्व है वह प्रकृति है।

4. कारणकार्यविभागात्—

कारण—कार्य के विभाजन करते हुए हम मूल तत्त्व प्रकृति तक पहुंचते हैं। प्रकृति से निकलने वाले तत्त्वों पर विचार किया जाए और उनका कारण कार्य में विभाजन किया जाए तो अंततः प्रकृति तक पहुंचा जा सकता है। जैसे पंच महाभूत का कारण पंच तन्मात्र और पंच तन्मात्र का कारण अहंकार और अहंकार का कारण महत् और महत् का कारण मूल प्रकृति है। इस प्रकार कारण कार्य का विभाजन करते हुए हम जिस मूल तत्त्व तक पहुंचते हैं, वह मूल तत्त्व प्रकृति है।

5. अविभागादवैश्वरूप्यस्य—

कारण—कार्य श्रृंखला के प्रत्येक तत्त्व को एक दूसरे में विलीन करते जाएं तो अंततः हम जिस मूल तत्त्व तक पहुंचते हैं वह प्रकृति है, जैसे पंच महाभूत को पंच तन्मात्र में मिलने से और पंचतन्मात्र को अहंकार में, अहंकार को महत् में और महत् जिसमें मिलते हैं, वह है सांख्य की प्रकृति है। उपर्युक्त तर्कों से प्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है।

बोध प्रश्न

1. प्रकृति का क्या अर्थ है?
2. प्रकृति के कितने गुण हैं?

2.4 'सांख्य दर्शन में पुरुष'

द्वैतवादी सांख्य दर्शन में दूसरा तत्त्व पुरुष है जिसे आत्मा भी कहा जाता है। यह पुरुष या आत्मा प्रकृति से पूर्णतया भिन्न है। सांख्य दर्शन में पुरुष निष्क्रिय है। वह उदासीन भी है। उसका कोई परिणाम न होने के कारण, वह अपरणामी है। पुरुष में तीनों गुणों का अभाव होने के कारण उसे निस्त्रैगुण्य भी कहा गया है। वह कुछ करता नहीं है इसलिए उसे अकर्ता भी कहा गया है। प्रकृति के द्वारा उद्भूत सारी चीजों का भोग करने के कारण पुरुष को भोक्ता भी माना गया है। वह नित्य, शाश्वत, अनादि है। सांख्य दर्शन में प्रकृति जड़ तत्त्व है तो पुरुष चेतन तत्त्व है। पुरुष के स्वरूप को उकेरते हुए सांख्य कारिका में कहा गया है—

तस्माच्चविपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।

कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकृतृत्वभावश्च ।

अर्थात् पुरुष तीन गुणों से रहित, विवेकी, विषयी, विशेष, चेतन और अप्रसवधर्मी है। चेतन होने के कारण वह सभी विषयों का द्रष्टा है और द्रष्टा होने के कारण वह साक्षी भी है। प्रकृति अचेतन है। वह अपने किए गए कार्यों को देख नहीं पाती है अतः उन्हें देखने वाला पुरुष है और वह साक्षी भी है। पुरुष कैवल्य रूप है क्योंकि वह निर्गुण है। गुण बंधन की ओर ले जाते हैं और निर्गुण होने के कारण पुरुष मुक्त है। निर्गुण होने के कारण पुरुष माध्यस्थ भी कहलाता है क्योंकि वह राग और द्वेष से ऊपर है। पुरुष विवेकी होने के कारण अकर्ता भी है। अज्ञानी प्रकृति कार्यों में सक्रिय है। प्रकृति के गुण जहां उसे सक्रिय करते हैं, वही निर्गुण पुरुष निष्क्रिय कहलाता है। पुरुष के इन स्वरूपों में विशेष रूप से भोक्ता और

अकर्ता में विरोधाभास दिखाई पड़ता है। कर्मवाद का सिद्धांत यह कहता है कि जो जैसा करता है, वैसा ही उसका फल भोगता है, किंतु यहां न करने वाला पुरुष भोग करता है, यही विरोधाभास है। इस विरोधाभास का समाधान करते हुए सांख्यकारिका में बतलाया गया है—

‘बालहुतासनतरवः’ अर्थात् बालक, अग्नि और पेड़ ये जिन तत्त्वों पर निर्भर करते हैं उनका निर्माण ये स्वयं नहीं करते हैं अतः भोक्ता और अकर्ता में कोई विरोधाभास नहीं है।

2.4.1 पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि

सांख्य दर्शन में न केवल पुरुष के स्वरूप की व्याख्या की गई है अपितु पुरुष अर्थात् आत्मा की सिद्धि भी अनेक तर्क द्वारा किया गया है। सांख्य कारिकाकार पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए लिखते हैं—

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।

पुरुषोअस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।

यहां पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए पांच तर्क दिए गए हैं।

1. **संघातपरार्थत्वात्**—संघात अर्थात् वस्तु समुदाय परार्थ अर्थात् दूसरों के लिए है। प्रकृति द्वारा उद्भूत सभी वस्तु समुदाय दूसरों के उपयोग के लिए है जिस प्रकार शैय्या, आसन, कुर्सी आदि दूसरों के उपयोग के लिए होते हैं उसी प्रकार महत्, अहंकार आदि भी दूसरों के लिए हैं। ये सब जिनके लिए हैं, वही सांख्य दर्शन का पुरुष है।

2. **त्रिगुणादिविपर्ययात्**—सांख्य दर्शन में प्रकृति तीनों गुणों से युक्त है। उसके द्वारा उद्भूत सभी तत्त्वों में तीनों गुण के धर्म पाए जाते हैं। वह सत्ता जिसमें तीनों गुणों का अभाव है, वह चेतन सत्ता सांख्य दर्शन का पुरुष है। इसमें न ही तीन गुण और न ही उनके धर्म पाए जाते हैं अर्थात् तीन गुण और उसके धर्म का अभाव जिसमें है, वह पुरुष है।

3. **अधिष्ठानात्**—संसार में प्रकृति से उत्पन्न सभी पदार्थ जड़ हैं। ये जड़ होने के कारण स्वतः प्रेरित नहीं होते हैं। जैसे जड़ रथ के संचालन के लिए चेतन सारथी की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार बुद्धि आदि त्रिगुणात्मक तत्त्व भी किसी अन्य के द्वारा प्रेरित होने चाहिए क्योंकि ये सब जड़ हैं। जिनके द्वारा ये प्रेरित होते हैं, वही पुरुष या आत्मा है।

4. **भोक्तृभावात्**—भोक्ता की अपेक्षा से सांख्य का पुरुष सिद्ध होता है। संसार में सुख—दुख, मोहात्मक सभी वस्तुएं भोग्य हैं। इनका उपभोग करने वाला कोई दूसरा तत्त्व होना चाहिए। प्रकृति स्वयं अपने तत्त्वों का भोग नहीं कर सकती। वह तो खुद अचेतन है अतः उसका भोग करने वाला जो सत्ता है, वह पुरुष है।

5. **कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च**—कैवल्य अर्थात् मोक्ष के लिए प्रवृत्ति है जिसकी, वह सांख्य दर्शन का पुरुष है। अचेतन प्रकृति कभी मुक्त नहीं हो सकती, तीन गुणों वाली प्रकृति कभी मुक्त नहीं हो सकती, अविद्या रूपी प्रकृति कभी मुक्त नहीं हो सकती। अतः तीन गुणों से रहित, विवेकी, विद्या संपन्न पुरुष ही मुक्त हो सकता है।

इन पांचों प्रमाणों से पुरुष का अस्तित्व सिद्ध होता है।

2.4.2 पुरुष की अनेकता

सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा एक नहीं, अनेक है। आत्मा की अनेकता को सिद्ध करते हुए सांख्यकारिका में कहा गया है—

जन्ममरणकरणानांमा, प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।

पुरुषबहुत्वं सिद्धम्, त्रैगुण्य विपर्ययाच्चैव ।

यहां तीन तर्कों के माध्यम से आत्मा की अनेकता को सिद्ध किया गया है।

1. जन्ममरणकरणानाम्—

संसार में हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति जन्म ले रहा है, कोई मृत्यु को प्राप्त हो रहा है और कोई इंद्रियों की दृष्टि से स्वस्थ है तो कोई अंधा, लूला, लंगड़ा आदि है। यदि आत्मा एक होती तो एक के मरने से सभी एक साथ मृत्यु को प्राप्त होते और एक के जन्म लेने से सभी एक साथ जन्म लेते किंतु संसार में ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसी तरह एक के अंधे होने से सारे अंधे हो जाते, एक के लंगड़े होने से सारे लंगड़े हो जाते, एक के बहरे होने से सारे बहरे हो जाते किंतु संसार में ऐसा दिखाई नहीं पड़ता है। कोई अंधा है, उसमें भी कोई जन्म से अंधा है, कोई किसी दुर्घटना से अंधा होता है। इसी तरह कोई जन्म से लंगड़ा होता है, कोई दुर्घटना से लंगड़ा होता है अतः यह सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं अनेक है।

2. प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च

यदि एक आत्मा होती तो एक क्रिया होने पर यत्र—तत्र—सर्वत्र वही क्रिया होती। एक के सोने से सभी सोते, एक के जागने से सभी जागते, एक के हंसने से सभी हंसते, एक के रोने से सभी रोते, एक के खड़े होने से सभी खड़े होते, एक के बैठने से सभी बैठते किंतु संसार में हम यह देखते हैं कि ये सारी क्रियाएं अलग—अलग होती हैं। कोई हंस रहा होता है, कोई रो रहा होता है, कोई जग रहा होता है, कोई सो रहा होता है, कोई कार्य कर रहा होता है। यह समस्त क्रियाएं एक साथ न होकर अलग—अलग होती हैं इसलिए यह सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं अनेक है।

3. त्रैगुण्य विपर्ययाच्चैव

यदि आत्मा एक होती तो तीनों गुणों का भेद संभव नहीं हो पाता। एक व्यक्ति प्रसन्न होता तो सारे प्रसन्न होते, एक दुःखी होता तो सारे दुःखी होते और एक निद्रा, तंद्रा और आलस्य में होता तो सभी की स्थिति ऐसी ही होती किंतु संसार में ऐसा दिखाई नहीं पड़ता है। सब की स्थितियां अलग—अलग देखी जाती हैं। कोई प्रसन्न है, तो कोई दुःखी है, कोई आलस्य में है अतः आत्मा की अनेकता सिद्ध होती है।

बोध प्रश्न

1. सांख्यदर्शन में आत्मा को क्या कहा गया है?
2. सांख्य का पुरुष कर्ता है या अकर्ता है?

2.5 प्रकृति-पुरुष संबंध अथवा 'विकासवाद

सांख्य दर्शन एक द्वैतवादी दर्शन है जहां प्रकृति और पुरुष दो स्वतंत्र तत्त्व हैं। ये दोनों तत्त्व आपस में पूर्णतया विरोधी हैं—एक जड़ है तो दूसरा चेतन है, एक विषय है दूसरा विषयी है, एक ज्ञेय है तो दूसरा ज्ञाता है, एक भोग्य है तो दूसरा भोक्ता है, एक तीन गुणों से युक्त है तो दूसरा तीन गुणों से रहित है, एक प्रसवधर्मि है तो दूसरा अप्रसवधर्मि है, एक परिणामी है तो दूसरा अपरिणामी है, एक अविवेकी है तो दूसरा विवेकी है, एक सामान्य है तो दूसरा विशेष है, एक दृश्य है तो दूसरा दृष्टा है, एक बंधन रूप है तो दूसरा कैवल्य रूप है, एक सक्रिय है तो दूसरा निष्क्रिय है, एक, एक है तो दूसरा अनेक है, इस प्रकार ये दोनों तत्त्व एक दूसरे के विरोधी दृष्टिगोचर होते हैं। प्रश्न उठता है कि जहां इतना विरोध है वहां एक दूसरे में सहयोग कैसे हो सकता है? बिना संयोग के सांख्य दर्शन आगे भी नहीं बढ़ सकता अतः दोनों विरोधी तत्त्वों में संबंध होना चाहिए। ये आपस में भले ही विरोधी हैं किंतु दोनों अपनी-अपनी आवश्यकताओं के कारण और अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति के कारण एक दूसरे से संबंध स्थापित करते हैं। इस संबंध को स्थापित करते हुए सांख्यकारिका में कहा गया है—

पुरुषस्य दर्शनार्थ कैवल्यार्थ तथा प्रधानस्य ।

पंग्वन्धवदुभयोरपि तत् कृतः सर्गः ॥

अर्थात् ये दोनों तत्त्व विरोधी होते हुए भी सहचारी हैं। दोनों अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक दूसरे से संबंध स्थापित करते हैं। सांख्य कारिका में अंधे और लंगड़े के उदाहरण के द्वारा इस संबंध को सिद्ध किया गया है। यहां यह बतलाया गया है कि जैसे अंधा और लंगड़ा दोनों एक जंगल में रहते थे। दोनों में आपस में कोई संबंध नहीं था। दोनों एक दूसरे को जानते नहीं थे किंतु जंगल में एक दिन आग लग गई। दृष्टि न होने के कारण अंधा जंगल पार नहीं कर सकता था और पंगु होने के कारण लंगड़ा भी जंगल पार नहीं कर सकता था। दोनों के अपने-अपने उद्देश्य थे। प्रकृति जो लंबे समय से प्रलय काल में पड़ी थी वह अपने स्वरूप को दिखाना चाहती थी और पुरुष मुक्त होना चाहता था इसीलिए दोनों का आपस में संबंध होता है जैसे दोनों अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जंगल पार कर लेते हैं वैसे ही प्रकृति और पुरुष विरोधी होते हुए भी अपने-अपने स्वरूपों को प्राप्त करने के लिए दोनों में संबंध स्थापित होता है और दोनों के संबंध स्थापित होने से सृष्टि के तत्त्व निकल पड़ते हैं—

प्रकृतेर्महत् ततो अहंकारः तस्माद् गणश्च षोडशकः ।

तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंच भूतानि ।

यहां यह बतलाया गया है कि प्रकृति से महत् अर्थात् बुद्धि का आविर्भाव होता है। बुद्धि का काम निश्चय करना है। 'अध्यवसायो बुद्धि' कथन प्रसिद्ध है। बुद्धि से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार तीन प्रकार के होते हैं— सात्विक अहंकार, राजसिक अहंकार और तामसिक अहंकार।

माना यह जाता है कि सात्विक अहंकार से 11 इंद्रियों की उत्पत्ति होती है, जो इस प्रकार हैं— आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा। इन्हें ज्ञानेन्द्रिय के नाम से भी जाना जाता है। इसके अतिरिक्त पांच कर्णेन्द्रिय इस प्रकार हैं—हाथ, पैर, वाणी, पायु और उपस्थ। इसके अतिरिक्त आंतरिक इंद्रिय के रूप में मन को माना गया है। तामसिक अहंकार से पंच तन्मात्र की उत्पत्ति होती है जो इस प्रकार हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध। इन्हीं पांच तन्मात्रों से पंच महाभूत की उत्पत्ति होती है जो इस प्रकार हैं— पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। राजसिक अहंकार इन दोनों को सक्रिय किया करता है। इस प्रकार सांख्य की मूल प्रकृति से निकलने वाले 23 तत्त्व हैं तथा 24वां तत्त्व सांख्य की प्रकृति है और 25वां तत्त्व पुरुष है। इस प्रकार सांख्य दर्शन 25 तत्त्वों का एक खेल है। इन 25 तत्त्वों का ज्ञान होना ही सांख्य का लक्ष्य है और इसी लक्ष्य को मोक्ष माना गया है। इन 25 तत्त्वों को चार भागों में विभक्त किया गया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतयःसप्त।

षोडशकस्तु विकारों न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः।

अर्थात् मूल प्रकृति किसी का विकार नहीं है अर्थात् किसी से उत्पन्न नहीं होती है। महत्, अहंकार और पांच तन्मात्र ये सात तत्त्व किसी से उत्पन्न होते हैं और किसी को उत्पन्न करते हैं। 11 इंद्रिय और पंच महाभूत ये 16 तत्त्व केवल विकार हैं अर्थात् किसी न किसी से उत्पन्न होते हैं और पुरुष न ही किसी से उत्पन्न होता है और न ही किसी को उत्पन्न करता है।

बोध प्रश्न

1. सांख्यदर्शन में दो तत्त्व कौन-कौन से हैं?
2. प्रकृति से निकलने वाला पहला तत्त्व क्या है?

2.6 मोक्ष विचार

सांख्य दार्शनिक प्रकृति और पुरुष के सहयोग को बंधन मानते हैं और उनके वियोग को मोक्ष मानते हैं। बंधन, दुःख की अवस्था है और मोक्ष में दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है। कहा गया है—

दुखत्रयाविघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकांत्यात्यन्तोभावात्।

अर्थात् सांख्य दार्शनिक कहते हैं कि त्रिविध दुःखों की पीड़ा सबको होती है। ये तीन दुःख हैं— आध्यात्मिक, आधि दैविक और आधि भौतिक। आध्यात्मिक दुःख से तात्पर्य है, जो अपने अंदर के विकारों से दुःख उत्पन्न होता हो। पेट दर्द करना, अजीर्ण होना, बुखार होना आदि बीमारियां अंदर के असंतुलन के कारण होती हैं। यह दुःख शारीरिक भी हो सकते हैं, मानसिक भी होते हैं। शरीर में किसी प्रकार की बीमारी होने से शारीरिक दुःख होता है और मानसिक इच्छाओं की पूर्ति न होने से मानसिक दुःख होता है। दोनों प्रकार के दुःखों की निवृत्ति

आवश्यक है। आधि भौतिक दुःख वह दुःख है जो किसी बाह्य सत्ता के द्वारा पहुंचाया जाता है। किसी को हंटर से मारना, किसी को ठोकर लगना, किसी को कुत्ता काटना आदि कई प्रकार के जो शारीरिक कष्ट हैं, वह आधि भौतिक हैं। आधि दैविक दुःख दैवीय सत्ता द्वारा दिया जाता है। इसके अंतर्गत अतिवृष्टि, अनावृष्टि भूकंप आदि से होने वाले दुःख हैं। इसके अंतर्गत भूत, प्रेत, यक्ष आदि के द्वारा दिया जाने वाला कष्ट भी आता है। इन तीनों प्रकार के दुःखों की एकांतिक निवृत्ति बीमार होने से दवाओं के द्वारा, आकांक्षा होने पर आकांक्षाओं की पूर्ति से, दुर्गम स्थान होने से स्थान परिवर्तन से, मंत्र अनुष्ठित धातु धारण करने से आधि दैविक दुःखों की निवृत्ति होती है किंतु यह निवृत्ति सदा-सदा के लिए संभव नहीं है। आत्यंतिक निवृत्ति के लिए ज्ञान की अपेक्षा होती है। सांख्य कारिका में कहा गया है—

धर्मेणगमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।

ज्ञानेन चापवर्गो तद्विपरस्यते बंधः।

अर्थात् धार्मिक क्रिया करने से ऊर्ध्व गमन हो सकता है अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। अधर्म से अधोलोक अर्थात् नरक की प्राप्ति हो सकती है किंतु मोक्ष तो ज्ञान से ही संभव है और अज्ञान से बंधन होता है। सांख्य दार्शनिकों का ज्ञान से तात्पर्य है प्रकृति और पुरुष का वास्तविक ज्ञान होना।

2.6.1 मोक्ष का स्वरूप

सांख्य दर्शन में दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति को मोक्ष माना गया है अतः मोक्ष के स्वरूप में दुःखों का पूर्णतया अंत होता है। यहां मोक्ष की अवस्था को आनंद की अवस्था नहीं माना गया है क्योंकि आनंद सतो गुण का परिणाम है जबकि मोक्ष तीनों गुणों से रहित अवस्था है। यह अवस्था अभाव रूप है। इसमें किसी का भाव नहीं होता है क्योंकि भाव जो है वह त्रिगुणात्मक है और मोक्ष दुःख रहित अवस्था है।

2.6.2 मोक्ष के प्रकार

सांख्य दार्शनिक मोक्ष को दो प्रकार का मानते हैं— प्रथम जीवनमुक्ति, द्वितीय विदेहमुक्ति। जीवन मुक्ति वह मुक्ति है जो जीवन काल में ही हो जाती है अर्थात् संसार में रहते हुए व्यक्ति संसार से अनासक्त हो जाता है तो वह जीवनमुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था की तुलना कुम्हार के चाक या पंखे से की गई है। जैसे कुम्हार चाक चलाने के बाद चाक से हाथ हटा लेता है और चाक पूर्व वेग के कारण कुछ समय तक चलता रहता है। इसी तरह यह शरीर भी प्रारब्ध कर्मों के वेग के कारण ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् कुछ समय तक चलता है और जब यह वेग अवरुद्ध हो जाता है तो फिर विदेह मुक्ति हो जाती है। विदेह मुक्ति से तात्पर्य देह से भी मुक्त हो जाना। इसी तरह पंखे के उदाहरण से भी स्पष्ट होता है।

बोध प्रश्न

1. मोक्ष में कितने दुःखों की निवृत्ति होती है?
2. मोक्ष त्रैगुण्य है या त्रिगुणातीत है?

2.7 प्रमाण विचार

सांख्य दार्शनिक प्रमा के कारण को प्रमाण मानते हैं। प्रमा से तात्पर्य यथार्थ ज्ञान से है। यथार्थ ज्ञान के साधन को प्रमाण कहा गया है। दूसरे शब्दों में यथार्थ अनुभव का साधन प्रमाण है। सांख्य कारिका में 'प्रमेय सिद्धि प्रमाणाद्धि' अर्थात् प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से होती है। यहां तीन प्रकार के प्रमाण माने गए हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। चक्षु आदि इंद्रियों का विषयों में व्यापार ही प्रत्यक्ष है। किसी इंद्रिय का अपने विषय से संयोग होने के पश्चात् जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। लिंग (हेतु) और लिंगी के संबंध से होने वाले ज्ञान को अनुमान कहा गया है। अनुमान का आधार व्याप्ति है। व्याप्तिपूर्वक होने वाले ज्ञान को अनुमान कहते हैं। अनुमान दो प्रकार के हैं—वीतऔर अवीत। वीत अनुमान के दो भेद हैं—पूर्ववत् और सामान्यतो दृष्टि तथा अवीत अनुमान को शेषवत् अनुमान कहते हैं। शब्द प्रमाण—'आप्तोपदेशः शब्दः' अर्थात् आप्त के उपदेश को शब्द कहा गया है। कपिल आदि ऋषियों के वचन को आप्त वचन कहते हैं। इसे श्रुति प्रमाण भी कहा जाता है।

2.8 निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि सांख्य दार्शनिक द्वैतवादी हैं, क्योंकि वे प्रकृति व पुरुष के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। दो भिन्न-भिन्न तत्त्व जब मिलते हैं तब सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सांख्य दर्शन में इसे विकासवाद नाम दिया गया है। प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध होता है तो सांख्य दर्शन में इसे बन्धन कहा गया है और जब दोनों का वियोग होता है तो यही मोक्ष है। सांख्य दार्शनिक ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति को मानते हैं।

2.9 अभ्यास के प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सांख्य दर्शन में प्रकृति के स्वरूप को समझाते हुए उसके अस्तित्व की सिद्धि कीजिए।

अथवा

सांख्य दर्शन के विकासवाद पर प्रकाश डालिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. निम्नलिखित में किन्हीं पांच पर टिप्पणी लिखिए?
(अ) सत्कार्यवाद (ब) प्रकृति के गुण (स) पुरुष की अनेकता
(द) द्वैतवाद (य) जीवन्मुक्ति (र) प्रमाण

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कौन हैं?
2. सांख्य शब्द का अर्थ क्या है?
3. सतोगुण का प्रतिफल क्या है?
4. आत्मा एक है या अनेक?
5. प्रकृति की परिभाषा लिखिए?
6. सांख्य द्वैतवादी है या अद्वैतवादी?

7. ईश्वरकृष्ण के ग्रन्थ का क्या नाम है?
8. मुक्ति के कितने प्रकार हैं?
9. प्रमाण कितने हैं?
10. सांख्य दर्शन का अन्तिम उद्देश्य क्या है?

2.10 अध्ययन हेतु ग्रन्थ

1. सांख्यकारिका—ईश्वरकृष्ण
2. भारतीय दर्शन—डॉ. बद्रीनाथ सिंह
3. सांख्य और योग—डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
4. भारतीय दर्शन—दत्ता एण्ड चटर्जी
5. भारतीय दर्शन—डॉ. चन्द्रधर शर्मा

इकाई—८ योग दर्शन

संरचना:—

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 भूमिका
- 3.2 महर्षि पतंजलि एवं पातंजल सूत्र का परिचय
- 3.3 योग का स्वरूप (पंच वृत्तियाँ)
- 3.4 निरोध मार्ग
- 3.5 पंच भूमियाँ
- 3.6 संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि
- 3.7 अष्टांग योग
- 3.8 ईश्वर विचार
- 3.9 निष्कर्ष
- 3.10 अभ्यास के प्रश्न
- 3.11 अध्ययन हेतु कुछ ग्रंथों के नाम

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य इस प्रकार हैं—

1. पतंजलि के अनुसार योग के स्वरूप का ज्ञान हो सकेगा।
2. पंचवृत्तियों की जानकारी हो सकेगी।
3. चित्त की मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान होगा।
4. अष्टांग योग को समझा जा सकेगा।
5. संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि की जानकारी हो सकेगी।
6. पांच क्लेशों का ज्ञान हो सकेगा।
7. ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान हो सकेगा।

3.1 भूमिका

योग दर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि हैं। इसी कारण से इस दर्शन को पातंजल दर्शन भी कहते हैं। इस दर्शन का आधारभूत ग्रंथ महर्षि पतंजलि रचित योग सूत्र या पतंजलि सूत्र है। यह ग्रंथ चार भागों में विभक्त है—समाधिपाद, साधनपाद विभूतिपाद एवं कैवल्यपाद। योग सूत्र पर सर्वप्रथम व्यास मुनि ने भाष्य लिखा जिसे व्यासभाष्य या योगभाष्य के रूप में जाना जाता है। इस भाष्य पर दो व्याख्याएं प्रसिद्ध हैं। प्रथम व्याख्या योगतत्त्व वैशारदी है जो वाचस्पति मिश्रा द्वारा लिखी गई है तथा दूसरी व्याख्या योग वार्तिक है जिसे विज्ञान भिक्षु द्वारा रचित माना गया है। योग दर्शन अन्य दर्शनों की भांति केवल सैद्धांतिक ही नहीं है अपितु व्यावहारिक भी है। यहां शरीर को हेय नहीं माना गया है अपितु यह माना गया है कि स्वस्थ मनस का वास स्वस्थ शरीर में होता है अर्थात् शरीर के स्वस्थ रहने से ही चित्त स्वस्थ होगा और चित्त के स्वस्थ होने से आत्मलाभ संभव है।

3.2 महर्षि पतंजलि एवं पातंजल सूत्र का परिचय

प्राचीनकाल में पतंजलि नाम के अनेक आचार्य हुए हैं, ऐसा विभिन्न ग्रन्थों से उल्लेख मिलता है। योग दर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि का समय विद्वानों द्वारा 200 ई. पूर्व माना गया है। इनके जन्म के बारे में सही जानकारी का अभाव दृष्टिगोचर होता है। इनके काल से पहले जो योग के विषय में कहा या लिखा गया था, उसको इन्होंने एक जगह एकत्रित कर लिपिबद्ध किया है। कुछ लोगों का कहना है कि यह वे पतंजलि नहीं हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि पतंजलि नाम के आचार्य, आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि वैदिक शास्त्र और व्याकरण के रचयिता पतंजलि दोनों पृथक-पृथक हैं, किंतु एक ऐसा श्लोक मिलता है जिससे यह सिद्ध होता है कि योग, व्याकरण और आयुर्वेद के आचार्य पतंजलि एक ही हैं—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचा, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।

यो अपाकरोत्तं प्रवरं मुनिनाम्, पतंजलि प्रांजलिरानतो अस्मि।।

अर्थात् योग से चित्त का, व्याकरण से भाषा का और वैदिक शास्त्र से शरीर का, आयुर्वेद से जो ऋषि मैलों को दूर कर देता है, ऐसे ऋषियों में अग्रणी ऋषि पतंजलि को हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूं।

प्राचीन काल में यही पतंजलि मुनि महाभाष्य के रचयिता थे। उल्लेख मिलता है कि पतंजलि मुनि शेषनाग के अवतार भी थे, जो एक बार काशी में पाणिनी मुनि के समक्ष सर्प के रूप में प्रकट हुए। उन्हें देखकर पाणिनी मुनि घबरा गए और उनके मुख से अकस्मात् निकला कोर्भवान। इस प्रश्न पर सर्प उत्तर देता है—‘सपो अहं’ फिर ऋषि पाणिनि सर्प से पूछते हैं—‘रेफः कुतो गतः।’ सर्प के रूप में पतंजलि उत्तर देते हैं—‘तव मुखे’। इसके बाद सर्प के आदेशानुसार एक चादर की आड़ के अंदर शेषनाग पतंजलि मुनि अपने हजारों मुखों से एक साथ सब प्रश्न कर्ताओं को उत्तर देने लगे। इस प्रकार यह महाभाष्य तैयार हुआ। किंतु वर्णन आता है कि सर्प की आज्ञा का उल्लंघन एक व्यक्ति द्वारा चादर उठाने पर शेषनाग की

फूँकार से सारे कागज जल गए। कागजों के जलने से ब्राह्मणों की दुःखी अवस्था देखकर एक यक्ष जो वृक्ष पर बैठकर पत्तों पर भाष्य को लिख रहा था, वह पत्ते उनके पास फेंक दिए उन पत्तों में से भी कुछ बकरी खा गई जिसके कारण कुछ स्थानों में महाभाष्य में असंगति आ गई। व्याकरण के ग्रन्थों में बतलाया है कि पतंजलि अपने पिता की अंजलि में अर्घ्य पान करते समय दिव्य रूप के ऊर्ध्व लोक से आकर गिरे, जिस कारण इनका नाम पतंजलि रखा गया।

‘पतंजलि चरितम्’ के अनुसार शेषावतार गोणिकापुत्र पतंजलि ने ही व्याकरण महाभाष्य के अनन्तर योगशास्त्र पर सूत्रों की एवं बौद्धिक शास्त्र पर वार्तिकों की रचना की। महर्षि पतंजलि की काल के संबंध में विद्वानों के अनुसार चौथी सदी से लेकर ईसा से 500 वर्ष पूर्व तक बतलाया गया है। अधिकांश विद्वानों के अनुसार मगध नरेश पुष्यमित्र और पतंजलि समकालीन थे। पुष्यमित्र के बारे में इतिहासवेत्ताओं की यह मानता है कि वह ईसा से डेढ़ सौ वर्ष पहले मगध के राजा थे, यही समय पतंजलि का था। पतंजलि द्वारा महाभाष्य लिखा गया, यह कई प्रमाणों से सिद्ध होता है। पुष्यमित्र का समय ईसा से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व था, अतः पतंजलि का लगभग यही समय सिद्ध होता है। जैकोबी और एम हिरियन्ना ने पतंजलि का समय पांचवीं शताब्दी स्वीकार किया है। डॉ राधाकृष्णन ने इनका समय ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी माना है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार हिरण्यगर्भ ही योग के वक्ता है। इनसे पुरातन और कोई वक्ता नहीं प्रतीत होता है, इसीलिए योग का आदि वक्ता हिरण्यगर्भ को स्वीकार किया है। सांख्य के प्रवर्तक कपिल मुनि ने भी योग के वक्ता के रूप में हिरण्यगर्भ को स्वीकार किया है। भगवत गीता में भी कहा गया है—हे योगेश्वर! यह योग कौशल क्या है जिसे भगवान हिरण्यगर्भ ने कहा था। भारतीय योग दर्शनों में पतंजलि का योग दर्शन एक है। उनका यह योग दर्शन सांख्य पर आधारित है। योगविद्या जो प्राचीन समय से उपलब्ध थी उसे सभी ग्रंथों से संग्रह करके पतंजलि ने अपने अनुभव विवेक के माध्यम से बिखरे हुए योग विभागों को एक सूत्र में व्यवस्थित कर मानवता के समक्ष प्रस्तुत किया जिसे हम पतंजलि योग दर्शन के रूप में जानते हैं। इनको संग्रह करने के कारण लोगों ने योग का श्रेय पतंजलि को दिया। महर्षि पतंजलि के ग्रंथ पातंजल सूत्र अथवा योग सूत्र है। इस पर व्यासजी ने ‘योगभाष्य’ लिखा है। योग सूत्र में चार पाद हैं। इनमें कुल सूत्रों की संख्या 195 है।

1. समाधि पाद

यह योग सूत्र का प्रथम पाद है, इसमें संबंध की व्याख्या की गई है। इस ग्रंथ में योग शास्त्र का प्रारंभ, योग की परिभाषा उद्देश्य, लक्षण, वृत्तियों के प्रकार, निरोध के उपाय—अभ्यास और वैराग्य, समाधि, ईश्वर प्रणिधान चित्त विक्षेप तथा इनको दूर करने के उपाय, चित्त प्रसादन और चित्त समाधि के उपाय, समाधि के प्रकार—सबीज एवं निर्बीज तथा उनके फल प्रकाशित हुए हैं। एकाग्रचित्त वाले साधक के लिए योग का उपदेश समाधि पाद में किया गया है।

2. साधन पाद—

यह द्वितीय पाद है इसमें आवश्यकता की पूर्ति करना बतलाया गया है। चंचल चित्त वाले साधक भी किस प्रकार योग साधक बन सकते हैं। इस पाद में 55 सूत्रों की व्याख्या की गई है। जिसमें क्रिया योग, अविद्या, पंचक्लेश, क्लेशो से मुक्ति के उपाय, दृश्य और दृष्टा का स्वरूप और संयोग तथा उसके नाश के उपाय, विवेकज्ञान सात प्रकार की प्रज्ञा, अष्टांग योग का वर्णन और उसका फल बताया गया है।

3. विभूति पाद—

यह योग सूत्र का तृतीय पाद है। इसमें उद्देश्य की पूर्ति करना बताया गया है। इस पाठ में 55 सूत्रों की व्याख्या की गई है। अंतरंग योग, चित्त के परिणामो का विषय, प्रकृति जनित समस्त पदार्थ परमाणुओं का वर्णन, विभिन्न विषयों में संयम का परिणाम विवेक ज्ञान और कैवल्य का वर्णन किया गया है।

4. कैवल्य पाद—

यह चतुर्थ पाद है। इसमें मोक्ष प्राप्ति पर प्रकाश डाला गया है। इसमें 34 सूत्रों के अंतर्गत सिद्धि प्राप्ति हेतु तथा जात्यंतर परिणाम का वर्णन, संस्कार की शून्यता, वासनाओं का प्रकटीकरण व स्वरूप, गुणों का वर्णन, चित्त का वर्णन और धर्ममेघ समाधि और कैवल्यवस्था का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार पतंजलि सूत्र अथवा योग सूत्र के चार पादों के विषय-वस्तु का संक्षिप्त विवेचन यहां किया गया है।

बोध प्रश्न

1. योग सूत्र के रचयिता कौन हैं?
2. योग सूत्र में कितने पाद हैं?

3.3 योग का स्वरूप (पंच वृत्तियाँ)

योग को परिभाषित करते हुए योग सूत्र में महर्षि पतंजलि लिखते हैं—‘योगश्चित्तवृत्ति निरोधः’ अर्थात् चित्त के व्यापार को रोक देना ही योग है। जब तक चित्त का व्यापार गतिमान रहता है तब तक योग साधना संभव नहीं होती है। योग दर्शन में चित्त की पांच वृत्तियाँ मानी गई हैं। ये इस प्रकार हैं—‘प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः पंचवृत्तयः’। ये पांच वृत्तियाँ अर्थात् प्रमाण, विपर्यय, विकल्प निद्रा और स्मृति हैं जो चित्त को योग साधना में आगे बढ़ने से रोकते हैं। इसमें प्रथम वृत्ति प्रमाण की है। योग सूत्र में कहा गया है—‘प्रत्यक्षानुमानागमानि प्रमाणानि’ अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण हैं। जब तक योग साधक इन प्रमाणों में उलझा रहता है तब तक वह योग साधना में आगे नहीं बढ़ पाता है।

दूसरी वृत्ति है—विपर्यय वृत्ति। योग सूत्र में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है—‘विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम्’ अर्थात् विपर्यय वृत्ति को मिथ्याज्ञान कहते हैं। रस्सी में सर्प का ज्ञान तथा सीपी में रजत का ज्ञान विपरीत ज्ञान है। यह विषय का यथार्थ ज्ञान नहीं है। इस विपर्यय वृत्ति को संसार का बीजभूत अविद्या को माना गया है। ‘विकल्प वृत्ति’—इस वृत्ति को परिभाषित करते हुए पतंजलि लिखते हैं—‘शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो’ ‘विकल्पः’ अर्थात् यह वह वृत्ति है जो केवल शब्द मात्र है किंतु वस्तु के रूप में शून्य है। जैसे आकाश कुसुम, यह केवल शब्द मात्र है। वास्तव में इसका कोई अस्तित्व नहीं है। मृगतृष्णा, बंध्यापुत्र तथा खरगोश की सींग, ये इस वृत्ति के उदाहरण माने जाते हैं। ‘निद्रावृत्ति’—योग सूत्र में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है—‘अभावप्रत्ययालंबना वृत्तिर्निद्रा’ अर्थात् जागृत और स्वप्नावस्था के अभाव के प्रत्यय को सहारा देने वाली वृत्ति निद्रा वृत्ति है। हम जानते हैं कि तीन प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत अवस्था, स्वप्नावस्था और निद्रावस्था। यदि जाग्रत और सपना अवस्था का अभाव होगा तो निद्रावृत्ति स्वाभाविक होगी। एक कहावत प्रसिद्ध है कि जो सोता है, वह खोता है अर्थात् सोने वाला कभी लक्षित मंजिल तक नहीं पहुंच सकता है। कछुए और खरगोश की कथा से भी यह बात सिद्ध होती है।

इससे यह सिद्ध होता है कि योग साधना में रत साधक को नींद पर नियंत्रण करना अति आवश्यक है।

स्मृति-वृत्ति

इस वृत्ति को परिभाषित करते हुए पतंजलि लिखते हैं—

‘अनुभूत विषयासंप्रमोषः स्मृति’ अर्थात् अनुभव किए गए विषय को न भूलना ही स्मृति है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्मृति के पूर्व अनुभव होना आवश्यक है। जिसे हमने कभी अनुभव नहीं किया उसकी कभी स्मृति हो ही नहीं सकती। स्मृति अतीत की घटनाओं को कभी भूलने नहीं देती जिसके कारण योग साधना में रत साधक को योग में आगे बढ़ने के लिए बांधा पहुंचती है। ये पांचों वृत्तियाँ चाहे दुःख रूप हो या सुख रूप अपने दोनों रूपों में ही योग में बांधा पहुंचाती हैं अतः इन वृत्तियों के निरोध से ही योग संभव है।

3.4 निरोध मार्ग

अब प्रश्न यह उठता है कि इन वृत्तियों का निरोध कैसे हो? महर्षि पतंजलि इसके निरोध के संदर्भ में लिखते हैं—

‘अभ्यासवैराग्याभ्या तन्निरोधः’ अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से वृत्तियों का निरोध होता है। चित्त की स्थिरता के लिए जो प्रयत्न किए जाते हैं उन्हें अभ्यास कहा गया है—

‘तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः’

चित्त सदैव चक्र की तरह निरंतर घूमता रहता है। योग के लिए उसे स्थिर करना अत्यंत आवश्यक है। यह चित्त की स्थिरता अभ्यास से ही संभव है। अभ्यास के लिए पतंजलि कहते हैं— ‘स तु’ ‘दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः’ अर्थात् अभ्यास के लिए लंबे समय की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही निरंतरता की आवश्यकता होती है। इन दोनों के साथ रुचि एवं श्रद्धा की भी आवश्यकता होती है। अर्थात् अभ्यास लंबे समय का होना चाहिए। उस अभ्यास में निरंतर होनी चाहिए तथा अभ्यास रुचिपूर्वक होना चाहिए।

वैराग्य के बारे में कहा गया है कि तृष्णारहित होना ही वैराग्य है। पतंजलि इसे परिभाषित करते हुए लिखते हैं—

‘दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्’ अर्थात् प्रत्यक्ष और परोक्ष विषयों में आसक्त न होना ही अपर वैराग्य है। इह लोक के विषय जैसे धन-धान्य, अचल संपत्ति, सुख-सुविधा आदि तथा परलोक के विषय अमृत पान और अप्सरा भोग आदि का त्याग ही अपर वैराग्य है। पर वैराग्य के संदर्भ में पतंजलि लिखते हैं—

‘तत्परम पुरुषख्यातेर्गुण वैतृष्यम्’ अर्थात् प्रकृति और पुरुष के ज्ञान से गुणों में तृष्णा का अभाव होना पर वैराग्य है। तात्पर्य है कि तीन गुणों वाली प्रकृति से पुरुष जब अपने आपको पृथक् समझने लगता है तो उसे अपने वास्तविक स्वरूप का भान हो जाता है, यहीं पर वैराग्य है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि चित्त के व्यापार पर अंकुश लगाना ही योग है। यह अभ्यास और वैराग्य से ही संभव है। इसके माध्यम से प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति जैसी वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं।

बोध प्रश्न

1. योग दर्शन में कितनी वृत्तियाँ मानी गई हैं?
2. वृत्तियों के निरोध के क्या उपाय बताये गये हैं?

3.4 पांच भूमियां

क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पांच मानसिक अवस्थाएं हैं इनमें प्रथम क्षिप्तावस्था में चित्त रजोगुण के प्रभाव में रहता है। इससे प्रभावित होने के कारण चित्त चंचल रहता है। किसी विषय पर एक क्षण भी नहीं एकाग्र होता है। यह गुण उत्तेजना प्रदान करता है जिसके कारण से यह अवस्था योग के अनुकूल नहीं है। द्वितीय मानसिक अवस्था मूढ की है। इस अवस्था में तमोगुण की प्रधानता रहती है। इस अवस्था में शरीर में भारीपन होता है, निद्रा-तंद्रा की स्थिति होती है, कर्तव्याकर्तव्य का विवेचन नहीं हो पाता है। इस अवस्था का चित्त राक्षस, पिशाच तथा मादक द्रव्यों के सेवन करने वाले उन्मत्त व्यक्तियों का होता है। यह अवस्था भी योग के अनुकूल नहीं है। तृतीय मानसिक अवस्था विक्षिप्त अवस्था है। इसमें सतों गुण के आविर्भाव से चित्त थोड़ी देर के लिए किसी विषय पर टिकने लगता है परन्तु तत्काल विषय से विमुख हो जाता है। इस अवस्था में आशिक स्थिरता होने के कारण यह अवस्था भी योग के अनुकूल नहीं है। चतुर्थ अवस्था एकाग्र अवस्था है। इस अवस्था में चित्त एक विषय पर केंद्रित रहता है। यह अवस्था योग साधना की अनुकूल अवस्था है। इसमें प्रथम कक्षा के योगी योग साधना के लिए प्रयासरत होते हैं। अंतिम मानसिक अवस्था निरुद्ध अवस्था की है। इस अवस्था में चित्त सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध कर लेता है। यहां चित्त अपने स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त करता है अर्थात् चित्त शांत हो जाता है। इस प्रकार का चित्त सिद्ध योगी का होता है। इस अवस्था में बाह्य और आंतरिक व्यापार निरोध हो जाते हैं। इस अवस्था में ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकरूपता हो जाती है।

3.5 संप्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि

चित्त की एकाग्र अवस्था में संप्रज्ञात समाधि होती है और निरुद्ध अवस्था में असंप्रज्ञात समाधि होती है। संप्रज्ञात अवस्था में सभी प्रकार की बाह्य वृत्तियों का निरोध हो जाता है तथा चित्त केवल विषय पर लगा रहता है। इस अवस्था में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि पांचो क्लेश नष्ट हो जाते हैं। अविद्या से तात्पर्य अज्ञानता से है। अस्मिता से तात्पर्य अहंकार से है। राग से तात्पर्य आसक्ति से है। द्वेष से तात्पर्य घृणा से है तथा अभिनिवेश से तात्पर्य मृत्यु के भय से है। इस अवस्था में ये सारे क्लेश नष्ट हो जाते हैं। ये सभी कष्ट देते हैं, दुःख देते हैं इसलिए इन्हें क्लेश कहा गया है। प्रथम संप्रज्ञात की अवस्था में इन सारे क्लेशों का निरोध हो जाता है। यहां चित्त ध्येय विषय में लीन रहता है। संप्रज्ञात समाधि की चार अवस्थाएं हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनंदानुगत तथा अस्मितानुगत। प्रथम अवस्था को सवितर्क समाधि कहते हैं। इस अवस्था में जिस देश विषय पर ध्यान केंद्रित होता है, उस विषय से संबंधित तर्क—वितर्क मन में उठते हैं इसीलिए इस अवस्था को

सवितर्क समाधि कहा गया है। दूसरी अवस्था है विचारानुगत की। इस अवस्था में साधक विषय पर सूक्ष्मता से विचार करता है। तीसरी अवस्था सानंद समाधि की है। इस अवस्था में साधक विषयजन्य आनंद का केवल भान करता है परंतु आनंद के अनुभव कर्ता के रूप में अहं का भाव रहता है। चौथी अवस्था अस्मितानुगत या सास्मित समाधि की है। इसमें ध्येय विषय का ही केवल भान होता है। यह आत्म साक्षात्कार की अवस्था है जिसमें आत्मा का शरीर, मन, अहंकार इत्यादि से भिन्नता का पूर्ण भाव होता है।

असम्प्रज्ञात समाधि, यह वह समाधि है जिसमें चित्त की बाह्य और आंतरिक सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध हो जाता है। संप्रज्ञात में सभी वृत्तियाँ सात्विक रूप को प्राप्त हो जाती हैं, किंतु असम्प्रज्ञात अवस्था में समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। यह अंतिम अवस्था है। इस अवस्था में योगी अपने समस्त सांसारिक विषयों से मुक्त होकर कैवल्य के प्रति समर्पित हो जाता है। यह आत्मा के शुद्ध चैतन्य की अवस्था है। इसे निरालंब, असंप्रज्ञात, निर्वीज समाधि कहा गया है। इस समाधि को धर्ममेघ समाधि भी कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार वर्षा करके मेघ सबको शांत कर देता है, उसी प्रकार इस अवस्था का योगी भी ब्रह्मानंद अमृत रूप जल की वर्षा कर सभी योगी को शांत कर देता है।

बोध प्रश्न

1. योग दर्शन में कितने प्रकार की मानसिक अवस्थाएं मानी गई हैं?
2. किस-किस अवस्था को योग के अनुकूल माना गया है?

3.6 अष्टांग योग

योग दर्शन में योग के आठ अंग माने गए हैं जो अष्टांग योग के रूप में प्रसिद्ध है। ये आठ अंग इस प्रकार हैं—यमनियामासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा— ध्यानसमाधियोष्ठांगानि अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये आठ अंग हैं। इन अंगों के अनुष्ठान से जहां अविद्या का विलोपन होता है वही सम्यक ज्ञान की प्राप्ति होती है। योग की पूर्ण सिद्धि से साधक में विवेक ख्याति की उत्पत्ति होती है और इस विवेक ज्ञान से कैवल्य का लाभ होता है।

3.6.1 यम

यम का अर्थ होता है अभाव अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, मिथुन तथा परिग्रह का अभाव ही यम है। यम के पांच अंग हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य ये पांच यम हैं। इसमें अहिंसा से तात्पर्य है किसी की हिंसा न करना, प्राणियों से कभी द्रोह न करना, मन, कर्म और वचन से कभी किसी को कष्ट न देना। सत्य से तात्पर्य है झूठ न बोलना, कभी किसी को वचन से ठगने की कोशिश न करना, हित, मित एवं मधुर वचन बोलना ही सत्य है। अस्तेय से तात्पर्य है किसी की वस्तु को बिना उसकी आज्ञा के स्पर्श न करना, दूसरों के द्रव्य ग्रहण करने के विचार का त्याग करना, चोरी न करना आदि अस्तेय है। ब्रह्मचर्य से तात्पर्य है इंद्रिय संयम करना, विषय वासनाओं का त्याग करना,

अश्लील आचरण से बचना आदि है। अपरिग्रह से तात्पर्य है अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह न करना, अधिक वस्तु का ग्रहण न करना, किसी की भी वस्तु में आसक्ति न रखना आदि से है।

3.6.2 नियम—

नियम को परिभाषित करते हुए पतंजलि लिखते हैं—

शौचसंतोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमानि

अर्थात् शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पांच नियम हैं जिसमें शौच से तात्पर्य है पवित्रता से। शौच दो तरह का होता है बाह्य और आंतरिक शौच। बाह्य शौच से तात्पर्य है हित, मित एवं उपयोगी बाहरी चीजों का ग्रहण करना और आंतरिक शौच से तात्पर्य है मैत्री करुणा और मुदिता से। संतोष से तात्पर्य है आवश्यक चीजों की प्राप्ति में संतुष्ट रहना तथा अनावश्यक की चाह न करना। संतोष को दार्शनिक सबसे बड़ा धन मानते हैं। कवि भी कहते हैं—जब आए संतोष धन, सब धन धूरि समान अर्थात् संतोष के आने से अन्य सारे धन मिट्टी की तरह हो जाते हैं। तप का मतलब है—द्वंद्व को सहन करना और विषम परिस्थितियों में सम रहना। विपरीत परिस्थितियों में सहज रहना तप है। स्वाध्याय से तात्पर्य पवित्र शास्त्रों को पढ़ना है। स्व अर्थात् आत्मा से संबंधित शास्त्रों का अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। प्रायः दार्शनिक मोक्ष प्रतिपादक उपनिषद, गीता आदि शास्त्रों का पठन—पाठन करने को ही स्वाध्याय मानते हैं। अश्लील साहित्य न पढ़ना अपितु आत्मा से संबंधित साहित्य का अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। परम पिता परमेश्वर में सब कुछ अर्पित कर देना ही ईश्वर प्रणिधान है।

3.6.3 आसन

पतंजलि लिखते हैं—

‘स्थिरसुखमासनम्’ अर्थात् सुख पूर्वक स्थिरता ही आसन है। आसन का इतना अभ्यास हो जाना चाहिए कि आसन करते समय सुख की अनुभूति होने लगे। आसन अनेक है—जैसे पद्मासन, भद्रासन, वीरासन, शशांकासन, पवनमुक्तासन, अर्ध पवनमुक्तासन, भुजंगासन, उत्तानपादासन वृक्षासन आदि।

3.6.4 प्राणायाम

प्राणायाम को परिभाषित करते हुए महर्षि पतंजलि लिखते हैं—

श्वास—प्रश्वासयोगतिर्विच्छेदः प्राणायामः। अर्थात् श्वास—प्रश्वास की गति के नियंत्रण को प्राणायाम कहते हैं। ये तीन प्रकार की है—पूरक, कुंभक और रेचक। श्वास का नियंत्रण के साथ लेना पूरक है तथा श्वास को नियंत्रणपूर्वक छोड़ना रेचक है और श्वास को नियंत्रणपूर्वक भीतर—बाहर रोकना कुंभक है। जब श्वास को बाहर रोकते हैं तो उसे बाह्य कुंभक कहा गया है तथा जब श्वास को अंदर रोकते हैं तो उसे अंतः कुंभक कहा गया है। इस प्रकार नियंत्रण पूर्वक श्वास को लेना छोड़ना तथा रोकना ही प्राणायाम है।

3.6.5 प्रत्याहार

प्रत्याहार को परिभाषित करते हुए महर्षि पतंजलि लिखते हैं—

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणाम् प्रत्याहारः अर्थात् इंद्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर मन के बस में करना ही प्रत्याहार है। प्रायः इंद्रियों के व्यापार को चित्त के व्यापार के अधीन माना गया है और जब चित्त का व्यापार बंद हो जाता है तो इंद्रियों का व्यापार भी बंद हो जाता है। प्रायः इंद्रियाँ अपने—अपने विषयों की ओर भागती है। इंद्रियों को अपने विषय से हटाकर चित्त में लगा देना ही प्रत्याहार है। संक्षेप में यह कहना स्वाभाविक है कि प्रत्याहार से इंद्रियाँ नियंत्रित होती है। योग के लिए उपयोगी ये अंग बहिरंग के रूप में माने गए हैं क्योंकि इनका योग से साक्षात् संबंध नहीं है। ये सभी योग के अनुकूल वातावरण तैयार करते हैं इसलिए योग के अंतर्गत इन्हें महत्व दिया गया है।

3.6.6 धारणा

बाह्य तथा आंतरिक किसी भी विषय में चित्त को केंद्रित करने को धारणा कहते हैं। बाहर के विषय जैसे सूर्य, चंद्र, कुंभ आदि पर चित्त को लगाना एवं आंतरिक विषय जैसे नाभिचक्र, ज्योतिकेंद्र, हृदय कमल आदि पर चित्त को स्थिर करने को कहा गया है। पतंजलि ने योगसूत्र में इसकी परिभाषा देते हुए कहा है—

देशबंधचित्तस्य धारणा

अर्थात् भीतर और बाहर के किसी भी विषय पर चित्त को एकाग्र करना ही धारणा है।

3.6.7 ध्यान

ध्यान को परिभाषित करते हुए पतंजलि लिखते हैं—

तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानं

अर्थात् उस धारणा में एकाग्रता की समयावधि को बढ़ाना ही ध्यान है। धारणा के विषय में चित्त को लंबे समय तक केंद्रित रखना ही ध्यान है।

3.6.8 समाधि

पतंजलि समाधि की परिभाषा देते हुए लिखते हैं—

‘तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि’ अर्थात् समाधि में विषय की शून्यता की स्थिति हो जाती है। इस अवस्था में ध्येय विषय और ध्यान की क्रिया दोनों पृथक् नहीं रहते हैं। यहां ध्यान की क्रिया ध्येय रूप में बदल जाती है। ध्याता, ध्येय और ध्यान की त्रिपुटी समाधि में एक रूप हो जाती है। यह पूर्णतया अद्वैत की स्थिति है। यहां ध्यता, ध्येय और ध्यान में कोई अंतर नहीं रह जाता है। योग दर्शन में समाधि दो प्रकार की मानी गई है। संप्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि। संप्रज्ञात समाधि में द्वैत की स्थिति बनी रहती है किंतु असम्प्रज्ञात समाधि में समस्त प्रकार की वृत्तियों का निरोध हो जाता है। यहां कोई द्वैत की स्थिति नहीं रह जाती है। यह पूर्णतः अद्वैत की स्थिति है। इस अवस्था में प्रज्ञा, संज्ञा और संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं। सभी वृत्ति प्रवाह तथा उनसे उत्पन्न संस्कारों के पूर्ण विनाश के कारण इसे निर्बीज समाधि, निरावलंब समाधि या असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं। उपर्युक्त तीनों साधन धारणा, ध्यान एवं समाधि को योग का अन्तरंग साधन माना जाता है, क्योंकि चित्त की एकाग्रता में तीनों साधनों का साक्षात् सम्बन्ध होता है।

बोध प्रश्न

1. योग के अंतरंग साधन कितने माने गये हैं?
2. प्रत्याहार किसे कहते हैं?

3.7 ईश्वर विचार

सांख्य और योग जुड़वे दर्शन के रूप में प्रसिद्ध है जिसमें सांख्य दर्शन को निरीश्वरवादी दर्शन माना जाता है और योग दर्शन को सेश्वरवादी माना जाता है। योग दर्शन में ईश्वर की मान्यता अन्य दर्शनों के ईश्वर की मान्यता से पृथक् दिखलाई पड़ती है। जहां अन्य दर्शनों में ईश्वर को सृष्टि के कर्ता के रूप में स्वीकार किया गया है वहां योग दर्शन में ईश्वर के निकट जाने से समाधि की सिद्धि होती है। कहा भी गया है—

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानाद्वा ।

अर्थात् समाधि के लिए ईश्वर से निकटता जरूरी है। चूंकि योग दर्शन साधना का दर्शन है जिसमें समाधि को अंतिम लक्ष्य माना गया है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ईश्वर के प्रति समर्पण आवश्यक है। यहां यह स्पष्ट होता है कि योग दर्शन में ईश्वर को जगत कर्ता के रूप में न मानकर समाधि सिद्धि के लिए आवश्यक माना गया है। ईश्वर के स्वरूप को बतलाते हुए पतंजलि लिखते हैं—

‘क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः’ पुरुष विशेष ईश्वरः अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित जो पुरुष विशेष है वह ईश्वर है। क्लेश पांच माने गए हैं—अविद्या, अस्मिता,

राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पांचो क्लेशों से जो रहित है ऐसे विशेष पुरुष को ईश्वर कहा गया है। कर्म दो प्रकार के होते हैं—कुशल कर्म और अकुशल कर्म अर्थात् शुभ और अशुभ कर्म। सभी कर्मों से जो रहित है, वह ईश्वर है। कर्म फल से रहित है, वह ईश्वर है। जो कर्म फल के संस्कारों से रहित है, वह ईश्वर है क्योंकि सांख्य दर्शन में प्रकृति के साथ पुरुष को स्वीकार किया गया है। यहां पुरुष आत्मा को माना गया है इसलिए ईश्वर को पुरुष विशेष की संज्ञा से अभिहित किया गया है। ईश्वर की दूसरी विशेषता बताते हुए कहा गया है—‘तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्’ अर्थात् वह पुरुष विशेष ज्ञान की पराकाष्ठा है और वही सर्वज्ञ का कारण भी है। यहां यह कह सकते हैं कि जहां सारी पराकाष्ठायें विराम लेती हैं, चाहे वह ज्ञान, विवेक, धर्म आदि की हों वह ईश्वर है। ईश्वर के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए यहां कहा गया है—‘पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्’ अर्थात् आदिकाल में उत्पन्न ब्रह्मा के गुरु अर्थात् उपदेष्टा के रूप में ईश्वर को माना गया है जो काल से अवच्छिन्न नहीं है अर्थात् तीनों काल जिसमें समाहित है। दूसरे शब्दों में ईश्वर को त्रैकालिक कहा जा सकता है क्योंकि वह सदैव विद्यमान रहता है। वह ब्रह्मा को भी ज्ञान प्रदान करता है ऐसे उस ईश्वर का वाचक ‘ओम’ अर्थात् ‘ओंकार’ है। ईश्वर का उच्चारण ओम से किया जा सकता है। योग सूत्र में कहा गया है

तस्यवाचकः प्रणवः

योगी को ओम का जाप उसमें निमज्जित होकर करना चाहिए। यहां यह भी कहा गया है—

तज्जपस्तदर्थं भावनम् अर्थात् उसका जाप उसमें डूब कर करना चाहिए। योगी जब ओंकार का जाप करता है तो उसे एकात्म भाव से जप करना चाहिए। इस प्रकार भगवान में डूब कर भगवान का जाप करने से परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। यही योग दर्शन का परम उद्देश्य है।

बोध प्रश्न

1. कर्म के कितने प्रकार माने गये हैं?
2. अविद्या किसे कहते हैं?

3.8 निष्कर्ष

महर्षि पतंजलि ने चित्त वृत्तियों के निरोध को योग माना है। गीता दर्शन में कर्म में दक्षता को योग माना है। लेकिन जब कर्म की दक्षता की मीमांसा करते हैं तो गीता दर्शन सकाम कर्म की दक्षता को योग न मान कर निष्काम कर्म की दक्षता को योग माना है। गीता दर्शन में दूसरी जगह समता को योग कहा गया है। जैन दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के साधन को योग कहा गया है। अन्य विचारक संयम को योग मानते हैं। योग की ये अलग-अलग परिभाषाएं लगभग एक ही भाव को स्पष्ट करती हैं जिसे हम कह सकते हैं कि योग परम शांति की अवस्था है। इस अवस्था में व्यक्ति दूसरों से प्रभावित नहीं होता है। महर्षि पतंजलि का भी यही हार्द है।

3.9 अभ्यास के प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. महर्षि पतंजलि के अष्टांग योग पर प्रकाश डालिए?

अथवा

योग दर्शन में ईश्वर विचार को स्पष्ट कीजिए?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में से किन्हीं पांच प्रश्नों के उत्तर दीजिए—

1. वृत्ति किसे कहते हैं? वृत्तियों को स्पष्ट कीजिए।
2. मानसिक अवस्था को समझाइए।
3. वृत्तियों के निरोध के उपाय बतलाइए।
4. पंच क्लेशों को स्पष्ट कीजिए।
5. संप्रज्ञात समाधि की व्याख्या कीजिए।
6. असंप्रज्ञात समाधि को स्पष्ट कीजिए।
7. पातंजल दर्शन में जप के महत्त्व को बताइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. योग का सामान्य अर्थ क्या है।
2. पतंजलि योग का क्या अर्थ करते हैं।
3. विपर्यय वृत्ति किसे कहते हैं।
4. अभ्यास से क्या तात्पर्य है।
5. क्षिप्त अवस्था में योग सम्भव है या नहीं।
6. संप्रज्ञात समाधि की अवस्था क्या है।
7. ध्यान किसे कहते हैं।
8. योग के बहिरंग साधन कौन-से हैं।
9. व्यास भाष्य के लेखक कौन हैं।
10. ईश्वर का वाचक क्या है।

3.10 अध्ययन हेतु ग्रन्थ

1. योगसूत्र या पातंजलसूत्र—महर्षि पतंजलि
2. योगभाष्य— व्यासजी
3. सांख्य योग— डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी
4. भारतीय दर्शन— प्रो. संगमलाल पाण्डेय
5. भारतीय दर्शन— दत्ता एण्ड चटर्जी

इकाई—ष्ट

न्याय और वैशेषिक दर्शन

संरचना:—

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 भूमिका
- 4.2 केशव मिश्र और तर्क भाषा का परिचय
- 4.3 प्रमाण विचार
- 4.4 प्रत्यक्ष प्रमाण
 - 4.4.1 प्रत्यक्ष के भेद
- 4.5 अनुमान प्रमाण
 - 4.5.1 अनुमान के प्रकार
- 4.6 हेत्वाभास
- 4.7 शब्द प्रमाण
 - 4.7.1 शब्द के प्रकार
 - 4.7.2 पूर्ण वाक्य की आवश्यकता
- 4.8 उपमान प्रमाण
- 4.9 पदार्थ विचार
- 4.10 वैशेषिक दर्शन
- 4.11 पदार्थ विचार
- 4.12 परमाणुवाद
- 4.13 निष्कर्ष
- 4.14 अभ्यास के प्रश्न
- 4.15 अध्ययन हेतु कुछ ग्रंथों के नाम

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य इस प्रकार हैं—

1. गौतम के अनुसार न्याय के स्वरूप का ज्ञान हो सकेगा।
2. न्याय के प्रमाणशास्त्र की जानकारी हो सकेगी।
3. हेत्वाभास के बारे में ज्ञान हो सकेगा।
4. न्याय दर्शन के पदार्थ विचार का ज्ञान होगा।
5. वैशेषिक दर्शन के स्वरूप को समझा जा सकेगा।
6. वैशेषिक पदार्थ विचार का ज्ञान हो सकेगा।
7. परमाणुवाद को समझा जा सकेगा।

4.1 भूमिका

दर्शन के क्षेत्र में न्याय का वही स्थान है जो अन्य शास्त्रों के ज्ञान में व्याकरण का है। इसे दर्शन का व्याकरण कहना कोई अतिरंजनापूर्ण कथन नहीं होगा। इसीलिए न्याय दर्शन को दूसरे नाम प्रमाणशास्त्र के रूप में जाना जाता है। न्याय दर्शन के महत्व को स्पष्ट करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं कि न्यायशास्त्र संपूर्ण विद्याओं का प्रकाशक, समस्त कर्मों का साधक और समग्र धर्म का आश्रय है। न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं। उनका न्याय सूत्र इस दर्शन का आधारभूत ग्रंथ है। महर्षि गौतम का दूसरा नाम अक्षपाद मिलता है। न्यायसूत्र पर महर्षि वात्स्यायन विरचित वात्स्यायन भाष्य है। इसका दूसरा नाम न्याय भाष्य भी है। कहते हैं कि न्याय शास्त्र में न्याय भाष्य का उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है जितना व्याकरण में पतंजलि के महाभाष्य एवं वेदांत में शांकरभाष्य का है। इस ग्रंथ पर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं। न्याय भाष्य पर उद्योतकर का न्याय वार्तिक प्रसिद्ध ग्रंथ है। न्याय वार्तिक पर वाचस्पति मिश्र का न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका भी है। इस ग्रंथ में बौद्ध आक्षेपों का तर्कसंगत उत्तर दिया गया है। न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका पर उदयनाचार्य का तात्पर्य परिशुद्धि महत्वपूर्ण ग्रंथ है। उदयनाचार्य का दूसरा ग्रंथ न्याय पुष्पांजलि भी प्रसिद्ध है। ईश्वर की सिद्धि में यहां महत्वपूर्ण तर्क मिलते हैं। न्याय दर्शन पर जयंत भट्ट की न्याय मंजरी भी एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

बारहवीं शताब्दी में नव्य न्याय का प्रारंभ माना जाता है जिसके प्रवर्तक आचार्य गंगेश उपाध्याय हैं। इनका महत्वपूर्ण ग्रंथ तत्त्वचिंतामणि है। इस ग्रंथ में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार खंड हैं। एक मान्यता है कि बौद्धों को शास्त्रार्थ में परास्त करने के लिए ही ब्राह्मणों ने एक नई शैली अपनाई जिसका उत्तर देने में बौद्ध असमर्थ रहे किंतु यह प्रमाणिक विचार नहीं है। आधुनिक इतिहासकार मानते हैं कि नव्य न्याय के प्रचार और प्रसार के समय बौद्ध इस देश को छोड़ गए थे। उनके पलायन करने में यवन का आक्रमण, राजकीय सहायता का बंद होना इत्यादि कारण हैं। नव्य नैयायिक श्री गंगेश और रघुनाथ को बौद्धों से उतना भय नहीं था जितना कि वाचस्पति, जयंत और उदयनाचार्य से था।

4.2 केशव मिश्र और तर्क भाषा का परिचय

कुछ ऐसे रचनाकार होते हैं जो अपने ग्रंथ में अपने परिचय का भी उल्लेख कर देते हैं जिससे उनके बारे में उनका पूर्ण परिचय मिल जाता है किंतु केशव मिश्र ऐसे विद्वान हुए जिन्होंने अपने ग्रंथ में अपने समय, स्थान आदि के बारे में कहीं कुछ भी उल्लेख नहीं किया है, जिसके कारण उनके बारे में तथा उनके समय, स्थान आदि के बारे में कोई निश्चित जानकारी नहीं हो पाती है। सुंदरलाल गोस्वामी जैसे विद्वान ने इनका जन्म स्थान मिथिला स्वीकार किया है तथा वह इन्हें मैथिली ब्राह्मण के रूप में मानते हैं। ये मिथिला के बहुत बड़े विद्वान अभिनव वाचस्पति के प्रपौत्र थे। केशव मिश्र के समय के बारे में ऐसी मान्यता है कि वह 1000 से 1400 ई के बीच रहे होंगे। ज्यादातर विद्वान उनके समय का निर्धारण 1300 के आसपास करते हैं। इनके बारे में यह कहा जाता है कि यह अन्नभट्ट से पहले हुए हैं।

उस समय मिथिला न्याय-शास्त्र की भूमि मानी जाती थी। ऐसी धारणा थी कि न्याय-शास्त्र के ज्यादातर विद्वान मिथिला में ही पैदा हुए हैं। उन विद्वानों में केशव मिश्र को भी मिथिला का श्रेष्ठ नैयायिक माना जाता है। उनकी विशेषता यह थी कि इन्होंने न्याय शास्त्र का बहुत ही बृहद प्रतिपादन बड़ी ही सहज और सरल शैली में किया है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ तर्कभाषा है जिसे प्रकरण ग्रंथ भी कहा जाता है। यह न्याय दर्शन का प्रकरण ग्रंथ है। प्रकरण ग्रंथ वह होता है जिसमें किसी विषय का विस्तृत वर्णन होता है। इस ग्रंथ में न्याय शास्त्र के 16 पदार्थ का जैसा सरल और विस्तृत वर्णन हुआ है वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। इसे न्याय शास्त्र का शोध ग्रंथ भी कहते हैं क्योंकि न्याय के विषयों को शोध पूर्ण ढंग से वर्णित किया गया है। इसे न्याय वैशेषिक का प्रवेश द्वार भी कहते हैं क्योंकि न्याय के 16 पदार्थ के साथ-साथ यहां वैशेषिक के भी सात पदार्थ का वर्णन मिलता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि केशव मिश्र ने न्याय-शास्त्र को ही बड़े ही शोध पूर्ण ढंग से व्याख्यायित किया है। उनका एक ग्रंथ अलंकार शेखर भी बहुत प्रसिद्ध है। इस प्रकार केशवमिश्र को न्याय शास्त्र का शिरोमणि कहा जा सकता है।

4.3 प्रमाण विचार

भारतीय दर्शन के सभी परंपराओं में प्रमाण विचार की स्पष्टता देखी जाती है। प्रत्येक दर्शन परंपरा में प्रमाण की मान्यता को लेकर अंतर दृष्टिगोचर होता है। चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करता है। बौद्ध और वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की स्वीकृति देखी जाती है। जैन दर्शन और सांख्य दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण की मान्यता है। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान ये चार प्रकार के प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर मीमांसक इन चार प्रमाणों के साथ पांचवा प्रमाण अर्थापत्ति को भी मानते हैं। भाट्ट मीमांसक एवं वेदांती इन पांच प्रमाणों के साथ अनुपलब्धि नाम का छठा प्रमाण भी मानते हैं। जहां तक न्याय दर्शन की बात है, न्याय दर्शन के केंद्र में प्रमाण विचार है। प्रमाण को अत्यधिक महत्व देने के कारण ही न्याय दर्शन का दूसरा नाम प्रमाणशास्त्र भी माना जाता है। महर्षि गौतम के 16 पदार्थ में प्रथम पदार्थ के रूप में प्रमाण ही है। न्याय दर्शन में

प्रमा के करण को प्रमाण कहा गया है अर्थात् यथार्थ ज्ञान के साधन के रूप में प्रमाण को माना गया है। प्रमा से तात्पर्य यथार्थ ज्ञान से है। इसे चार वर्गों में विभक्त किया गया है—

प्रमाण—इसे यथार्थ ज्ञान का साधन कहा गया है।

प्रमेय—इसे यथार्थ ज्ञान का विषय माना गया है।

प्रमाता—इसे यथार्थ ज्ञान का ज्ञाता कहा गया है।

प्रमिति—निष्कर्ष रूप में यथार्थ ज्ञान को प्रमिति कहा गया है।

इन सब में प्रमाण प्रमुख है। तर्कभाषा में प्रमायाः करणं इति प्रमाणम् के रूप में प्रमाण को परिभाषित किया गया है अर्थात् यथार्थ ज्ञान के साधन के रूप में प्रमाण को माना गया है। न्याय वार्तिक में 'अर्थोपलब्धिः हेतु प्रमाणम्' अर्थात् प्रमाण को अर्थोपलब्धि का हेतु स्वीकार किया गया है।

बोध प्रश्न

1. तर्क भाषा के रचयिता कौन हैं?
2. तर्क भाषा के अनुसार प्रमाण की क्या परिभाषा है?

4.4 प्रत्यक्ष प्रमाण

आस्तिक और नास्तिक सभी परंपराओं में प्रत्यक्ष को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि अन्य सभी प्रमाणों का यह आधार है। न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका में कहा गया है—'सर्व प्रमाणं प्रत्यक्षपूर्वकं' अर्थात् सभी प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक हैं। कहा भी जाता है कि प्रत्यक्षं किम् प्रमाणम् अर्थात् प्रत्यक्ष हुई वस्तु के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुए कहा गया है— इंद्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। प्रत्यक्ष की परिभाषा में तीन ऐसे शब्द हैं जो प्रत्यक्ष के वैशिष्ट्य को प्रकट करते हैं। अव्यपदेश्यम् से तात्पर्य है अशाब्दज से अर्थात् प्रत्यक्ष की प्रारंभिक स्थिति जिसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहा जाता है, वह ज्ञान अशाब्दज होता है अर्थात् उसे शब्दों में प्रकट नहीं किया जा सकता। ज्ञान तो होता है किंतु शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। दूसरा शब्द है अव्यभिचारी। इसका अर्थ है भ्रम रहित अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान में किसी प्रकार का भ्रम नहीं होता है।

यह रस्सी है अथवा सर्प है, इस प्रकार का भ्रम नहीं होता है। तीसरा शब्द है व्यवसायात्मकम् जिसका अर्थ है निश्चित अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चित होता है उसमें किसी प्रकार का संदेह या संशय की स्थिति नहीं होती है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान वह ज्ञान है जो इंद्रियों के माध्यम से होता है किंतु उसमें किसी भी प्रकार के भ्रम की गुंजाइश नहीं होती है, वह निश्चित ज्ञान होता है, उसमें कोई संदेह नहीं होता है। इस परिभाषा में इंद्रिय और विषय के संयोग को प्रत्यक्ष का कारण माना गया है किंतु नव्य नैयायिक इस परिभाषा से सहमत नहीं है। आचार्य गंगेश उपाध्याय का कहना है कि प्राचीन न्याय की परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष है। यदि इंद्रिय संयोग पर ही प्रत्यक्ष अवलंबित है तो प्रत्यक्ष, अनुमान और स्मृति में कोई अंतर नहीं रह जायेगा क्योंकि अनुमान या स्मृति में भी

प्रत्यक्ष के समान ही इंद्रिय सन्निकर्ष है। इसीलिए नव्य नैयायिक प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इंद्रिय सन्निकर्ष को महत्व न देकर साक्षात्कार की अपेक्षा करते हैं। सभी प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए साक्षात् होने की आवश्यकता है। इस प्रकार गंगेश उपाध्याय ने प्रत्यक्ष की परिभाषा करते हुए कहा है 'साक्षात् कारित्वं प्रत्यक्षस्य लक्षणम्' अर्थात् साक्षात्कार ही प्रत्यक्ष का लक्षण है। सिद्धांत मुक्तावली में प्रत्यक्ष की परिभाषा करते हुए कहा गया है—

‘ज्ञानाकरणकं ज्ञानम प्रत्यक्षम्’ अर्थात् ज्ञान के अकरण रूप को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष ज्ञान का कोई कारण नहीं है, जबकि अनुमान का कारण व्याप्ति है, शब्द का कारण पद ज्ञान है और उपमान का कारण सादृश्यता है किंतु प्रत्यक्ष का ऐसा कोई कारण नहीं है इसलिए नव्य नैयायिक की परिभाषा भी उपयुक्त प्रतीत होती है।

4.4.1 प्रत्यक्ष के भेद

मुख्य रूप से प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—लौकिक एवं अलौकिक। यह भेद इंद्रियों के संयोग पर आधारित है। लौकिक प्रत्यक्ष में इंद्रियों का विषय से सीधा संपर्क होता है। मन को लेकर छः इंद्रियां हैं और इन इंद्रियों के माध्यम से जो विषय का संपर्क होता है तो उसके आधार पर 6 प्रकार के ज्ञान भी होते हैं। चक्षु के आधार पर जो ज्ञान होता है, उसे चाक्षुस कहते हैं, घ्राण के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे घ्राणज कहते हैं, कान के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे श्रोत कहते हैं, जिह्वा के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे रासन कहते हैं, त्वचा के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे स्पर्शन कहते हैं और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे मानस कहते हैं। इस ज्ञान में क्रमशः रूप, गन्ध, शब्द, रस, स्पर्श आदि का ज्ञान होता है। दूसरे मत के अनुसार लौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार के होते हैं निर्विकल्प प्रत्यक्ष, सविकल्प प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष, निर्विकल्प प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष की प्रारंभिक अवस्था कहा गया है। इस अवस्था में मूक बालक की तरह ज्ञान होता है क्योंकि यह ज्ञान नाम और जाति विहीन होता है। इसमें ज्ञान के विभिन्न विकल्पों का ज्ञान नहीं हो पाता अतः यह ज्ञान गूंगे का ज्ञान बनकर रह जाता है। बौद्ध दार्शनिक तो इसी निर्विकल्प प्रत्यक्ष को ही यथार्थ प्रत्यक्ष कहा है। बौद्ध आचार्य दिङ्नाग तो यहां तक कहते हैं कि प्रत्यक्ष या कल्पना नाम, जाति आदि से विहीन है। धर्मकीर्ति भी कहते हैं कि जो नामधारी है, वह यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं। न्याय-वैशेषिक दर्शन में निष्प्रकारक ज्ञान को निर्विकल्प और सप्रकारक ज्ञान को सविकल्प कहा गया है। यह दोनों अवस्थाएं प्रत्यक्ष की दो अवस्थाएं हैं। दोनों में विषय का कोई भेद नहीं है। भेद केवल इतना ही है कि सविकल्प शाब्दज है और निर्विकल्प शब्द शून्य है। निर्विकल्प और सविकल्प दोनों की आत्मा एक ही है। भेद इतना ही है कि निर्विकल्प अव्यक्त रहता है और सविकल्प व्यक्त रहता है। सविकल्प के अंतर्गत सभी प्रकार के धर्म, जाति, गुण, स्वरूप आदि का ज्ञान होता है। इसमें विशेषण विशेष्य का भी ज्ञान होता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष

यह वह प्रत्यक्ष है जिसमें इंद्रियों का अपने विषयों से साक्षात् संबंध नहीं होता है। यह प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है—सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष, ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष एवं योगज प्रत्यक्ष।

सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष

जब किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष से हमें उसकी जाति या सामान्य का भी प्रत्यक्ष होता है क्योंकि वह सामान्य उसमें समवेत रहता है। जब हम एक घड़ा देखते हैं तो उसके साथ घटत्व का भी ज्ञान होता है क्योंकि घटत्व तो घड़े में समवेत है। हम अपनी आंखों से घटत्व का ज्ञान करते हैं तथा इसमें सामान्य लक्षण सकल विषयक अलौकिक प्रत्यक्ष का ज्ञान भी प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य में मनुष्यत्व का भी अलौकिक प्रत्यक्ष होता है।

ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष

ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष प्रायः हम प्रत्यक्ष में प्रत्येक इंद्रिय का अपने-अपने विषय के ज्ञान को स्वीकार करते हैं किंतु ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष में जब एक इंद्रिय दूसरे इंद्रिय के विषय का ज्ञान करती है उसे ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष कहा जाता है। जैसे बगीचे की घास को देखकर यह ज्ञान प्राप्त कर लेना की घास मुलायम होती है यह ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष है। घास के मुलायमपन का ज्ञान स्पर्श द्वारा होता है किंतु यहां पर इसका ज्ञान नेत्र द्वारा किया गया है। कई बार जब हम स्पर्श करके घास मुलायम है ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तो यह ज्ञान मन मस्तिष्क में इस प्रकार बैठ जाता है कि उसके बाद देखने मात्र से ही उसके मुलायम होने का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। भ्रम की व्याख्या करने के लिए ज्ञान लक्षण की आवश्यकता होती है। प्रायः हम देखते हैं की रस्सी में सर्प का भ्रम होता है। यह इसलिए होता है क्योंकि सर्प का ज्ञान हमें पूर्व में है और वही ज्ञान ज्ञानात्मक निष्कर्ष द्वारा भ्रम में कारण बनता है जिससे भ्रम उत्पन्न होता है।

योगज प्रत्यक्ष

प्रायः यह देखा जाता है कि साधारण व्यक्ति की इंद्रिय शक्ति सिमट जाती है। इन इंद्रियों से सभी अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म विषयों का ज्ञान संभव नहीं हो पाता है। योगी को दूरस्थ, निकटस्थ, प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि सभी विषयों का ज्ञान होता है। यही योगज प्रत्यक्ष है। यह योगाभ्यास से उत्पन्न विशेष शक्ति के द्वारा होता है यह दो प्रकार का है—युक्त और युंजान। युक्त सिद्ध योगी वह है जिसे सभी वस्तुओं का सदैव प्रत्यक्ष होता है और युंजान वह साधक है जो योगाभ्यास में लगा रहता है तथा उसकी साधना अभी पूरी नहीं हुई होती है। यह योगाभ्यास द्वारा आकाश, परमाणु आदि सकल पदार्थ का ज्ञान रखता है परंतु पुंजन योगी को आकाश परमाणु आदि समस्त पदार्थ का ज्ञान, ज्ञान विशेष करने पर ही होता है।

बोध प्रश्न

1. महर्षि गौतम के अनुसार प्रत्यक्ष की परिभाषा लिखिए?
2. ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष से क्या तात्पर्य है?

4.5 अनुमान प्रमाण

अनुमान दो शब्दों से बना है—अनु. मान, अनु का अर्थ होता है बाद में और मान का अर्थ होता है ज्ञान। इसका तात्पर्य है कि अनुमान प्रत्यक्ष प्रमाण के बाद होने वाला ज्ञान है, इसीलिए महर्षि गौतम ने अपने न्याय सूत्र में 'तत्पूर्वकं अनुमानम्' लिखा है अर्थात् अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है। अनुमान प्रमाण का आधार व्याप्ति है। यदि व्याप्ति नहीं है तो अनुमान संभव नहीं। लिंग और लिंगी के संबंध को व्याप्ति कहते हैं। धूम और अग्नि का संबंध ही व्याप्ति है। प्रत्येक अनुमान में तीन पद और तीन वाक्य होते हैं। पक्ष, साधन और साध्य ये अनुमान के तीन पद हैं। साधन के द्वारा जिसके बारे में निष्कर्ष निकाला जाता है, वह साध्य है। जिस स्थान पर निष्कर्ष निकाला जाता है वह पक्ष है, और जिसके माध्यम से निष्कर्ष निकाला जाता है, वह साधन है। धूम साधन है, अग्नि साध्य है और रसोई घर पक्ष है। अनुमान में इन तीन पदों के साथ-साथ तीन महत्वपूर्ण वाक्य भी होते हैं जैसे प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण है, किंतु परमार्थ अनुमान में पंच पदों की मान्यता है और वह पांच पद हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इस प्रकार यह कह सकते हैं कि अनुमान में हेतु और साध्य का अभिनाभावी संबंध स्थापित होता है।

4.5.1 अनुमान के प्रकार

न्याय दर्शन में सामान्यतः तीन प्रकार से अनुमान के भेद किए जाते हैं।

1. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुमान के दो भेद किए जा सकते हैं—1. स्वार्थानुमान और परार्थानुमान
2. प्राचीन न्याय के अनुसार अनुमान के तीन भेद किए जाते हैं—पूर्ववत, शेषवत और सामान्यतोदृष्ट। यह वर्गीकरण व्याप्ति के आधार पर दृष्टिगोचर होता है।
3. यह मान्यता नव्य नैयायिकों की है, जो व्याप्ति के आधार पर अनुमान के तीन भेद करते हैं—केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वय व्यतिरेकी।

1. स्वार्थानुमान और परार्थानुमान

स्वार्थानुमान का प्रयोग व्यक्ति अपने संशय की निवृत्ति के लिए करता है। जब किसी व्यक्ति को पर्वत की अग्नि में संदेह होता है, वहां पर वह धूम को देखा है। व्याप्ति के आधार पर पर्वत में अग्नि का निश्चय कर लेता है। यहां तीन वाक्य से ही काम चल जाता है किंतु जब किसी दूसरे को अनुमान का ज्ञान कराना होता है तो पंचावयव की आवश्यकता होती है। पंचावयव से तात्पर्य है—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण उपनय और निगमन।

प्रतिज्ञा—पर्वत में अग्नि है।

हेतु—क्योंकि पर्वत में धुआं है।

उदाहरण—जहां—जहां धुआं है वहां—वहां अग्नि है।

उपनय—क्योंकि पर्वत में धुआं है।

निगमन—इसलिए पर्वत में अग्नि है

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि स्वयं अपने लिए अनुमान करने के लिए तीन वाक्य की आवश्यकता होती है, वही दूसरों को अनुमान कराने के लिए पांच वाक्य की आवश्यकता पड़ती है। जिसे न्याय दर्शन में पंचावयव कहा गया है।

1. पूर्ववत अनुमान

जब कारण को देखकर कार्य का अनुमान किया जाता है तो यह पूर्ववत अनुमान कहलाता है। जैसे आसमान में बादल को देखकर बारिश का अनुमान करना पूर्ववत अनुमान कहलाता है।

2. शेषवत अनुमान

इस अनुमान में कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाता है। सोकर उठने के बाद चारों तरफ जल का भराव देखकर या अनुमान कर लेना की रात में बारिश हुई होगी। यह शेषवत अनुमान है।

3. सामान्यतोदृष्ट—

उपर्युक्त दोनों अनुमान कारण—कार्य नियम पर आधारित हैं किंतु यह अनुमान कारण—कार्य नियम पर आधारित नहीं है। यहां हम एक के आधार पर दूसरे का अनुमान इसलिए करते हैं कि वह सामान्यतः संबंधित होते हैं। सूर्य को पूर्व दिशा में उगते हुए देखते हैं और शाम को पश्चिम दिशा में अस्त होते देखते हैं तो यह अनुमान करते हैं कि सूरज में गति है। यहां पूर्व में उदित होने और पश्चिम में अस्त होने जैसी दो घटनाओं में संबंध स्थापित कर गति के बारे में अनुमान करते हैं। जैसा कि नाम से स्पष्ट है कि सामान्यतः ऐसा अनुभव होता है।

1. केवलान्वयी अनुमान

केवलान्वयी अनुमान में अन्वय के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाता है उसे केवलान्वयी अनुमान कहते हैं। दर्शन में अन्वय विधि को विधेयात्मक विधि के रूप में देखा जाता है। इसके आधार पर आधारित अनुमान केवलान्वयी अनुमान कहलाता है—जैसे जो—

प्रमेय है वह अभिधेय है।

घट प्रमेय है।

अतः घट अभिधेय है।

2. केवल व्यतिरेकी अनुमान—

जिस अनुमान में व्यतिरेकमूलक व्याप्ति हो। जहां साधन—साध्य में निषेध मूलक संबंध के आधार पर अनुमान किया जाता है, उसे केवल व्यतिरेकी अनुमान कहते हैं—जैसे—

जहां—जहां अग्नि नहीं, वहां वहां धुआं नहीं

इस पर्वत में धुआं है

इसलिए इस पर्वत में अग्नि है।

3. केवल अन्वय व्यतिरेकी—

इस अनुमान में अन्वय और व्यतिरेकी विधि दोनों के द्वारा अनुमान किया जाता है।

इसे केवल अन्वय व्यतिरेकी अनुमान कहते हैं—जैसे—

जहां—जहां धुआं है, वहां—वहां अग्नि है।

पर्वत में धुआं है।

अतः पर्वत में अग्नि है।

जहां—जहां अग्नि नहीं है, वहां—वहां धुआं नहीं है।

पर्वत में धुआं है।

अतः पर्वत में अग्नि है।

4.6 हेत्वाभास

जब हेतु वास्तविक रूप में प्रयुक्त होता है तब वह अनुमान का आधार बनता है किंतु कभी—कभी ऐसा होता है कि जब हेतु वास्तविक रूप में प्रयुक्त न होकर आभासिक रूप में प्रयुक्त होता है तो वह हेत्वाभास कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जब देखने में हेतु प्रतीत हो किंतु वह हेतु न होकर हेतु का आभास कराता है तो उसे हेत्वाभास कहते हैं, जैसे शब्द नित्य हैं, क्योंकि वह उत्पन्न होता है। यहां हेतु उत्पन्न होता है, वास्तविक रूप में हेतु नहीं है अतः यह हेत्वाभास है। यह पांच प्रकार का है—सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित।

1. सव्यभिचार—

जहां हेतु और साध्य में भ्रमरहित व्याप्ति न हो, उसे सव्यभिचार हेत्वाभास कहते हैं, जैसे सभी द्विपद बुद्धिमान हैं।

हंस द्विपद है।

अतः हंस बुद्धिमान है।

यहां हेतु द्विपद और साध्य बुद्धिमान में भ्रमरहित व्याप्ति नहीं है, जैसे—

सभी द्विपद बुद्धिहीन हैं (कबूतर)

हंस द्विपद है

अतः हंस बुद्धिहीन है।

इसे अनेकांतिक हेत्वाभास भी कहते हैं।

2. विरुद्ध—

हेतु का काम साध्य को सिद्ध करना होता है किंतु जब हेतु साध्य के विपरीत तथ्य प्रस्तुत करता है तो वह विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है, जैसे—

शब्द नित्य है, क्योंकि वह उत्पन्न होता है। यहां हेतु उत्पत्ति और साध्य नित्य में विरोध होने के कारण विरुद्ध हेत्वाभास है।

3. सत्प्रतिपक्ष—

यह हेत्वाभास तब होता है जब एक अनुमान का कोई दूसरा प्रतिपक्षी अनुमान संभव हो जैसे— शब्द नित्य है, क्योंकि यह आकाश की तरह अदृश्य है।

शब्द अनित्य है, क्योंकि यह घट की तरह एक कार्य है। यहां द्वितीय अनुमान प्रथम अनुमान के निगमन को खंडित कर देता है। प्रथम अनुमान में हेतु आकाश के द्वारा शब्द की नित्यता सिद्ध की गई है, जबकि द्वितीय अनुमान में हेतु कार्य के द्वारा उसकी अनित्यता सिद्ध की गई है अतः यह सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है।

4. असिद्ध—

इस हेत्वाभास को साध्यसम भी कहते हैं। यह वह हेत्वाभास है जो स्वयं साध्य की तरह असिद्ध रहता है। जिस तरह साध्य का अस्तित्व अभी तक सिद्ध नहीं है, इसी प्रकार हेतु का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं रहता है इसलिए इसे साध्यसम भी कहते हैं। जब यह स्वयं असिद्ध रहता है तो यह निगमन को सत्य कैसे सिद्ध कर सकता है। जैसे— आकाश कुसुम सुगंधित है, क्योंकि यह कुसुम है।

इसमें हेतु कुसुम का अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि आकाश कुसुम का अस्तित्व संदिग्ध है। इस तरह हम देखते हैं कि जहां हेतु स्वयं असिद्ध है, अतः असिद्ध हेत्वाभास है।

5. बाधित—

यहां हेतु के द्वारा जो प्रमाण सिद्ध किया जाता है किन्तु वह प्रत्यक्ष के द्वारा बाधित होता है अतः इसे बाधित हेत्वाभास कहते हैं, जैसे अग्नि शीतल है क्योंकि यह एक द्रव्य है। यहां द्रव्य हेतु, निगमन शीतल को सिद्ध नहीं कर पाता क्योंकि यह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित हो रहा है। हम सब जानते हैं की अग्नि उष्ण होती है अतः अग्नि को शीतल किसी भी हेतु से सिद्ध नहीं किया जा सकता यहां भी हेतु द्रव्य अग्नि को शीतल सिद्ध करने में असमर्थ है अतः यह बाधित हेत्वाभास है।

बोध प्रश्न

1. परार्थानुमान किसे कहते हैं?
2. सव्यभिचार हेत्वाभास से क्या तात्पर्य है?

4.7 शब्द प्रमाण

शब्दों एवं वाक्यों से जो वस्तुओं का ज्ञान होता है उसे शब्द कहते हैं। शब्द को प्रमाण तभी माना जा सकता है जब इसके द्वारा यथार्थ ज्ञान मिलता है। इसीलिए आप्त अर्थात् यथार्थवादी व्यक्तियों के वचन को ही शब्द प्रमाण कहा गया है। तर्क संग्रह में कहा गया है कि विश्वास योग्य व्यक्ति के वचन के अर्थ का ज्ञान शब्द प्रमाण है अर्थात् शब्द प्रामाणिक तब होता है जब वह किसी विश्वास योग्य व्यक्ति का वाक्य होता है।

4.7.1 शब्द के प्रकार

शब्द दो प्रकार के हैं— दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ। दृष्टार्थ शब्द उसे कहते हैं जिससे ऐसी वस्तुओं का ज्ञान होता है जिनका प्रत्यक्ष हो सके और अदृष्टार्थ शब्द उसे कहते हैं जिससे अदृष्ट वस्तुओं का ज्ञान होता है। महात्माओं के विश्वास योग्य वचन, धर्म ग्रंथों की

वैसी युक्तियां जो दृष्ट पदार्थों के संबंध की हो, ये सब दृष्टार्थ शब्द के अंतर्गत आते हैं किंतु प्रत्यक्ष के बाहर वस्तुओं के संबंध जो महात्माओं, धर्मगुरु तथा धर्म ग्रंथों के विश्वास योग्य वचन होते हैं। परमाणुवाद के संबंध में वैज्ञानिकों के वचन हैं, पाप और पुण्य के संबंध में जो धर्म गुरुओं के वचन हैं, ईश्वर, जीव की नित्यता आदि के संबंध में जो धर्मग्रंथों की युक्तियां हैं, ये सभी अदृष्टार्थ शब्दों के अंतर्गत आते हैं। दूसरे ढंग से इसके दो भेद किए जाते हैं—वैदिक और लौकिक। वेदों के वचन को वैदिक शब्द जिसे निर्दोष एवं अभ्रान्त कहा गया है किंतु लौकिक शब्द सभी सत्य नहीं होते हैं। लौकिक शब्द वही सत्य होते हैं जो विश्वास योग्य व्यक्तियों के वचन होते हैं।

4.7.2 पूर्ण वाक्य की आवश्यकता

शब्द प्रमाण विश्वास योग्य व्यक्तियों, धर्म ग्रंथों के वाक्य होते हैं अतः अर्थ पूर्ण वाक्य के लिए यहां चार बातें आवश्यक बताई गई हैं— आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि तथा तात्पर्य।

1. आकांक्षा—

प्रत्येक वाक्य के पदों को आपस में एक दूसरे की अपेक्षा रहती है, इसे ही आकांक्षा कहते हैं। किसी भी वाक्य का कोई एक पद संपूर्ण अर्थ बोध नहीं कर सकता इसलिए आवश्यकता इस बात की होती है कि वाक्य के प्रत्येक पद एक दूसरे की आवश्यकता को महसूस करते हैं, जैसे कोई व्यक्ति कहता है— लो तो तत्काल या प्रश्न उठता है कि क्या लो, उत्तर के रूप में पुस्तक लो होने से वाक्य में पदों की आकांक्षा पूरी हो जाती है और वह एक सार्थक वाक्य बन जाता है।

2. योग्यता—

प्रत्येक वाक्य में दूसरी आवश्यकता पदों की योग्यता की होती है। वाक्य में पद का प्रयोग अनुकूल होने चाहिए। विरोध में होने से सार्थक नहीं हो पाते हैं। आग से सींचो वाक्य में आग और सींचो परस्पर विरुद्ध हैं।

3. सन्निधि—

वाक्य की तीसरी आवश्यकता सन्निधि है। यहां सन्निधि से तात्पर्य निकटता से है। कोई वाक्य अर्थ सूचक तभी हो सकता है जब उसके पद निकट रूप में जुड़े हुए हों। यदि किसी वाक्य के तीन पद तीन पृष्ठ पर अलग-अलग लिखे जाएं तो वाक्य की आवश्यकता सन्निधि की पूर्ति नहीं होती है, उसी के कारण वाक्य अर्थ पूर्ण नहीं कहलाता।

4. तात्पर्य—

किसी वाक्य में प्रसंगवस प्रयुक्त शब्द का तात्पर्य उपयुक्त होता है यदि कोई भोजन करने के लिए बैठा है और वह कहता है— सैंधव लाओ। कोई तात्पर्य समझने की भूल करके घोड़ा लाकर खड़ा कर देता है तो यह उपयुक्त नहीं है। सैंधव का एक अर्थ नमक होता है अतः भोजन करते समय सैंधव लाओ का मतलब नमक लाओ से होता है, न कि घोड़ा लो से। अतः किसी वाक्य की अर्थवत्ता के लिए उसके तात्पर्य को समझना आवश्यक प्रतीत होता है।

4.8 उपमान

न्याय दर्शन में उपमान को तीसरा प्रमाण माना गया है। यहां संज्ञा और संज्ञि के संबंध को उपमान कहा गया है। यह प्रमाण सादृश्यता पर आधारित है। कोई व्यक्ति यदि यह कहता है कि नीलगाय गाय के आकार की होती है और जंगल में जाकर जब इस प्रकार का कोई जानवर देखता है तो पूर्व में कहे हुए वाक्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि यह नीलगाय है। उपमान प्रमाण के लिए यह कहना आवश्यक है कि किसी परिचित वस्तु का स्मरण और आगे चलकर उसका प्रत्यक्षीकरण हो तो उपमान प्रमाण सार्थक सिद्ध होता है। चार्वाक एकमात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण सिद्ध नहीं है। बौद्ध दार्शनिक उपमान को प्रमाण नहीं मानते हैं। उनके अनुसार यह प्रत्यक्ष और शब्द का ही एक परिवर्तित रूप है अतः इसे स्वतंत्र प्रमाण मानने

की आवश्यकता नहीं है। वैशेषिक एवं सांख्य उपमान को अनुमान का ही एक प्रकार मानते हैं।

अतः उनके अनुसार यह कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। जैन उपमान को प्रत्यभिज्ञान के अंतर्गत रखते हैं। मीमांसक और वेदांती उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं किंतु ये इसका कुछ भिन्न अर्थ करते हैं।

बोध प्रश्न

1. शब्द प्रमाण के कितने प्रकार हैं?
2. उपमान प्रमाण का आधार क्या है?

4.9 पदार्थ विचार

न्याय-वैशेषिक जुड़वे दर्शन के रूप में जाने जाते हैं। जहां न्याय दर्शन में सोलह पदार्थ माने गए हैं, वहीं वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थ स्वीकार किए गए हैं। यहां सोलह पदार्थ की चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है जो इस प्रकार हैं— प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह—स्थान। इनका यहां संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

1. प्रमाण—

किसी भी विषय के यथार्थ ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण के द्वारा ही यथार्थ ज्ञान संभव है। न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने गए हैं।

2. प्रमेय—

प्रमाण के द्वारा जिस विषय का ज्ञान होता है, वह विषय प्रमेय कहलाता है। न्याय दर्शन में बारह प्रकार के प्रमेय माने गए हैं— आत्मा, शरीर, पांच ज्ञानेंद्रिय, इंद्रियों के विषय, (जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव अर्थात् पुनर्जन्म, फल (अर्थात् सुख दुःख का अनुभव), दुःख, अपवर्ग अर्थात् मोक्ष। वात्स्यायन के अनुसार गौतम ने यहां केवल उन प्रमेयों का उल्लेख किया है जिनके ज्ञान मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

3. संशय—

मन की वह अवस्था है जहां दो या दो से अधिक विकल्प उपस्थित होते हैं। जब मन में दुविधा की स्थिति होती है तो उसे संशय कहते हैं। यहां व्यक्ति किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाता है। मन में दो प्रकार के विरोधी विचार उठते रहते हैं।

4. प्रयोजन—

जिस भी किसी कार्य का संपादन किसी विशेष उद्देश्य के लिए किया जाता है तो विशेष उद्देश्य ही प्रयोजन कहलाता है। कभी-कभी अच्छाई को प्राप्त करने एवं बुराई को छोड़ने के लिए कार्य किए जाते हैं तो ये दोनों प्रकार के कार्य प्रयोजन कहलाते हैं।

5. दृष्टांत—

यहां दृष्टांत से तात्पर्य उदाहरण से है। जब किसी वाद-विवाद में कोई दृष्टांत प्रस्तुत कर विरोधी को चुप कराया जाता है तो वहा दृष्टांत का अत्यधिक महत्व होता है।

किसी ज्ञान की सिद्धि में भी उदाहरण का अत्यधिक महत्व है। पर्वत में अग्नि का निष्कर्ष तभी संभव है जब जहां-जहां धुआं है, वहां-वहां अग्नि है ऐसे तर्क संगत उदाहरण हो।

6-सिद्धांत-

किसी भी दर्शन की मूल मान्यता को सिद्धांत कहा जाता है। जैन दर्शन में अनेकांतवाद, बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद, वेदांत दर्शन में मायावाद, न्याय दर्शन में प्रमाण शास्त्र ये निश्चित दर्शनों के सिद्धांत कहे जाते हैं।

7-अवयव-

जब किसी सिद्धांत को अनुमान के द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता होती है तो उसमें पंचावयव की अपेक्षा होती है। यह पंचावयव परार्थानुमान के लिए उपयोगी है।

8-तर्क-

इसे युक्ति भी कहा जाता है। जब किसी प्रतिपाद्य विषय को सिद्ध करने के लिए जो युक्तियां दी जाती हैं उसे ही तर्क कहते हैं। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में तर्क का अत्यधिक महत्व होता है।

9-निर्णय-

किसी विषय के निश्चित ज्ञान या अंतिम निष्कर्ष को निर्णय कहा जाता है। सन्देह के दूर होने पर ही निर्णय तक पहुंचा जा सकता है। इसकी प्राप्ति के बाद निर्णायक के मन में कुछ भी संशय नहीं रह जाता। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि प्रमाण के द्वारा किसी भी विषय के संबंध में निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचना ही निर्णय कहलाता है।

10-वाद-

वाद उस विशद विचार को कहते हैं जहां प्रमाण और तर्कों के द्वारा अपने पक्ष का मंडन और विपक्ष का खंडन किया जाता है। दोनों ही उद्देश्य यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति करना रहता है।

11. जल्प-

वादी और प्रतिवादी दोनों का उद्देश्य यथार्थ ज्ञान को प्रस्तुत करना न होकर केवल समय पास करना होता है तो उसे जल्प कहते हैं। प्रायः न्यायालयों में वकील जल्प का उपयोग अगली तारीक की प्राप्ति के लिए करते हैं।

12. वितंडा-

यहां वादी अपने पक्ष का मंडन नहीं करता, वह केवल प्रतिवादी के पक्ष का खंडन करता है। यहां दूसरे के पक्ष पर कीचड़ उछालना, उसमें मीनमेख निकालना ही लक्ष्य रहता है।

13. हेत्वाभास-

जब हेतु का प्रयोग वास्तविक रूप में न होकर आभासिक रूप में होता है तो उसे हेत्वाभास कहते हैं।

14. छल-

यह एक प्रकार के दुष्ट उत्तर का नाम है। किसी कहे गए वाक्य के सम्बंधित अर्थ को छोड़कर दूसरा अर्थ ग्रहण करके दोष प्रस्तुत किया जाता है तो उसे छल कहते हैं। कोई कहता है कि बालक के पास नव कंबल हैं। यहां नव का अर्थ नया ना करके नौ संख्या में करके ठगने का जब प्रयत्न होता है तो उसे छल कहा गया है अर्थात् मुख्यार्थ को छोड़कर गौड़ या लाक्षणिक अर्थ लेकर आक्षेप करना ही छल है।

15. जाति—

यहां जाति शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह भी एक दूसरे प्रकार का दुष्ट उत्तर है। जब हम वादी की दोष-रहित युक्ति का खंडन करने के लिए किसी भी प्रकार के सदृश्य या वैषम्य पर अवलंबित दुष्ट अनुमान की सहायता लेते हैं तो उस अनुमान को जाति कहते हैं, जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि यह घट की भांति एक कार्य है। जब इस अनुमान का खंडन करने के लिए यह कहें कि शब्द नित्य है क्योंकि वह काल की तरह अदृश्य है। यहा नित्य और अदृश्य में कोई नियत संबंध नहीं है।

16—निग्रहस्थान—

वाद—विवाद में जब पराजय के स्थान पर पहुंचा जाता है तो उसे निग्रह स्थान कहते हैं। इसके दो कारण होते हैं— पराजय या तो गलत ज्ञान के कारण होता है या अज्ञान के कारण होता है। न्याय दर्शन पूर्णतः वस्तुवादी दर्शन है। वस्तुओं का अस्तित्व किसी ज्ञाता पर निर्भर नहीं होता है। यहां वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञाता से स्वतंत्र रहता है क्योंकि न्याय दर्शन में प्रमाणों को अत्यधिक महत्व दिया गया है। दूसरे शब्दों में इसे प्रमाणशास्त्र कहा जाता है इसलिए इस दर्शन को तर्क प्रधान वस्तुवाद कह सकते हैं।

बोध प्रश्न

1. निग्रहस्थान किसे कहते हैं?
2. अवयव से क्या तात्पर्य है?

4.10 ईश्वर विचार

न्याय दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। गौतम के अनुसार जीवों के कर्मानुसार ईश्वर जगत की सृष्टि और जीवन के सुख—दुख का विधान करते हैं। नव्य नैयायिक भी ईश्वर को मोक्ष के लिए आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर की दया से ही जीवात्मा वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यहां ईश्वर को जगत का श्रेष्ठ पालक और संहारक माना गया है। ईश्वर के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए यहां ईश्वर को षडैश्वर्य संपन्न कहा गया है अर्थात् ईश्वर में आधिपत्य,वीर्य,यश,श्री, ज्ञान एवं वैराग्य यह छः ऐश्वर्य हैं। यहा ईश्वर को जगत का निमित्त कारण माना गया है। ईश्वर परमाणुओं के द्वारा अदृष्ट को ध्यान में रखते हुए संसार की व्यवस्था करता है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कुछ तर्क भी दिए गए हैं। ईश्वर जगत का कर्ता है,जगत का निर्माण उसी के द्वारा हुआ है। वह अदृष्ट का अधिष्ठाता भी है। यहां अदृष्ट का तात्पर्य कर्म संस्कार से हैं अर्थात् ईश्वर कर्म व्यवस्था पर विशेष रूप से ध्यान रखना है। व्यक्ति ने जो पाप और पुण्य का संग्रह किया है, उसी के अनुसार उनके

भाग्य का निर्माण होता है। धर्म ग्रंथों की प्रामाणिकता भी ईश्वर से सिद्ध होती है। सभी धर्म अपने-अपने धर्म ग्रंथों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। यहां प्रश्न उठता है कि उनकी प्रामाणिकता का कारण क्या है? अंततः ईश्वर को ही धर्म ग्रंथों की प्रामाणिकता का कारण माना गया है। वेदों के कर्ता के रूप में भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है। आप्त वचनों से भी ईश्वर की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। वेदों-उपनिषदों एवं अन्य धार्मिक शास्त्रों में ईश्वर के बारे में जो वचन कहे गए हैं उससे भी ईश्वर की सिद्धि होती है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि युक्ति पर आधारित होने के कारण न्याय-दर्शन प्रमाणशास्त्र के रूप में जाना जाता है। प्रमाण की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी यहां पदार्थ विचार पर भी प्रकाश डाला गया है।

4.11 वैशेषिक दर्शन

इस दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद थे। कणाद के बारे में यह प्रसिद्ध है कि फसल की कटाई के बाद खेतों में अन्न के दाने जो गिरे मिलते थे, उन्हीं से वह अपनी आजीविका चलाते थे। इस रूप में उनका नाम सार्थक प्रतीत होता है। कणाद के द्वारा प्रवर्तित होने के कारण इस दर्शन को 'कणाद दर्शन' भी कहते हैं। इनके पदार्थ विचार में विशेष नामक एक पदार्थ है, जिसका अत्यधिक महत्व होने के कारण, इस दर्शन को वैशेषिक दर्शन भी कहते हैं। कणाद के बारे में यह माना जाता है कि उनका वास्तविक नाम उलूक था, इसलिए इस दर्शन को औलूक्य दर्शन के नाम से भी जाना जाता है।

इस दर्शन का आधारभूत ग्रंथ कणाद द्वारा रचित वैशेषिक सूत्र है। इसमें दस अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय दो भागों में विभक्त है। प्रशस्तपाद ने इस पर पदार्थधर्मसंग्रह ग्रंथ लिखा है। यह भाष्य होते हुए भी एक स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में अपनी पहचान रखता है। इस ग्रंथ पर दो टीकाएं लिखी गई हैं। उदयनाचार्य ने किरणावली और श्रीधराचार्य ने न्याय कंदली लिखा है। इसके पश्चात इस दर्शन के जो भी ग्रंथ मिलते हैं, वे न्याय और वैशेषिक दोनों ही दृष्टियों से रचित हैं। इन ग्रंथों में शिवादित्य की सप्त पदार्थी है, लौगाक्षी भास्कर की तर्क कौमुदी, वल्लभाचार्य की न्याय लीलावती और विश्वनाथ पंचानन का भाषा परिच्छेद प्रमुख है।

4.11.1 पदार्थ विचार

पदार्थ की प्रमुखता के साथ चर्चा होने के कारण वैशेषिक दर्शन को पदार्थशास्त्र भी कहा जाता है। अब प्रश्न उठता है कि पदार्थ क्या है? उसका स्वरूप क्या है? पदार्थ की व्याख्या करते हुए कहा जा सकता है कि पदस्य अर्थः पदार्थः है अर्थात् पद के अर्थ को पदार्थ कहते हैं। संपूर्ण विश्व पद और अर्थ की परिधि में बंधा हुआ है। प्रत्येक पद का कोई न कोई अर्थ होता है और प्रत्येक अर्थ का वाचक कोई पद होता है। इस प्रकार कोई भी अर्थ या वस्तु जो किसी नाम से युक्त हो पदार्थ कहलाता है। सप्तपदार्थी में पदार्थ को परिभाषित करते हुए कहा गया है—'प्रमिति विषया पदार्थाः' अर्थात् पदार्थ प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान के विषय को कहा जाता है। तर्क दीपिका में अभिधेयत्व को पदार्थ का सामान्य लक्षण अर्थात् अभिधेयत्व एवं वाचक पदार्थ का सामान्य लक्षण माना गया है। इस प्रकार हम यह

कह सकते हैं कि सभी पदार्थ प्रमेय है और जो प्रमेय है, वह अभिधेय है और जो अभिधेय है, वह पदार्थ है। आचार्य प्रशस्तपाद ने पदार्थ के तीन लक्षण बतलाए हैं— पदार्थ सत् है, पदार्थ ज्ञेय है और पदार्थ अभिधेय है। तात्पर्य है कि पदार्थ का अस्तित्व है, पदार्थ जाना जा सकता है और पदार्थ का कोई न कोई नाम अवश्य होगा।

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद के अनुसार छः प्रकार के पदार्थ हैं। उनके अनुसार 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यं तत्त्वज्ञानं निश्चयसहेतुः' अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन छः पदार्थों के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इससे स्पष्ट होता है कि कणाद और प्रशस्तपाद ने छः भाव पदार्थ को स्वीकार किए हैं। इन्होंने अभाव पदार्थ का उल्लेख नहीं किया है किंतु कालांतर में उनके अनुयायियों ने अभाव को सातवें पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में अभाव को लेकर सात प्रकार के पदार्थ स्वीकार किए गए हैं।

1. द्रव्य पदार्थ

वैशेषिक दर्शन के सात पदार्थ में प्रथम पदार्थ के रूप में द्रव्य को स्वीकार किया गया है। वैशेषिक सूत्र में द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है—'क्रियागुणवत्-समवायिकारणं द्रव्यलक्षणम्' अर्थात् गुण और क्रिया के समवायि कारण को द्रव्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में गुण और क्रिया के आधार को द्रव्य कहा गया है। तात्पर्य यह है कि गुण और कर्म बिना आधार के नहीं रह सकते। ये जिनके आश्रित रहते हैं, उसी को द्रव्य कहा जाता है। द्रव्य के नौ प्रकार होते हैं— पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इनमें प्रथम पांच को पंचभूत भी कहा गया है क्योंकि प्रत्येक में कोई न कोई विशेष गुण पाया जाता है, जिसका इंद्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष होता है। पृथ्वी का विशेष गुण गन्ध है, जल का विशेष गुण रस है, तेज का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का शब्द। ये पांचों विशेष गुण पांच इंद्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं। इनमें से चार पृथ्वी, जल तेज और वायु ये परमाणु रूप से नित्य हैं और कार्य रूप से अनित्य है। पांचवा भौतिक द्रव्य आकाश है जो शब्द का आधार बनता है। शब्द प्रत्यक्ष होता है किंतु आकाश नहीं। आकाश की तरह दिक् और काल भी अगोचर द्रव्य हैं। इनमें से प्रत्येक एक, नित्य और सर्वव्यापी है। आत्मा भी नित्य और सर्वव्यापी द्रव्य है जो चैतन्य का आधार है। जीवात्मा और उनके गुण को प्रत्यक्ष करने वाला आन्तरिक साधन मन है। यह परमाणु रूप है अतः दृष्टिगोचर नहीं हो सकता, इसका हम अनुमान लगाते हैं। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में द्रव्य को व्याख्यायित किया गया है।

2. गुण

गुण को परिभाषित करते हुए वैशेषिक दर्शन में कहा गया है—'द्रव्याश्रय्यगुणवानसंयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्' अर्थात् गुण द्रव्य के आश्रित है। गुण अपने आप में निर्गुण है और गुण निष्क्रिय है। वैशेषिक दर्शन में 24 गुण माने गए हैं— रूप, रस, गंध,

स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्तत्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेहत्व, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार।

3. कर्म

वैशेषिक दर्शन में कर्म को गतिशील धर्म कहा गया है और गुण को निष्क्रिय। गुण अपने आधारभूत पदार्थ का वह निष्क्रिय धर्म है जो इस में स्थित रहता है। कर्म वह गतिशील व्यापार है जो पदार्थ को स्थानांतरित करता रहता है। कर्म का कोई गुण नहीं होता क्योंकि गुण केवल द्रव्य में ही आश्रित रह सकता है। कर्म पांच प्रकार के होते हैं— उक्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, गमन, जिस कर्म के द्वारा ऊपरी प्रदेश के साथ संयोग होता है वह उक्षेपण कहलाता है। जैसे किसी पत्थर को ऊपर उछालना। जिस कर्म के द्वारा निचले प्रदेश के साथ संयोग होता है वह अवक्षेपण कहलाता है। जैसे ऊपर से गेंद नीचे फेंकना। आकुंचन वह कर्म है जिसके द्वारा किसी चीज को संकुचित किया जाता है, जैसे हाथ-पैर को मोड़ना। प्रसारण वह कर्म है जिसके द्वारा किसी चीज का विस्तार किया जाता है, फैलाया जाता है, जैसे हाथ-पैर को फैलाना। चलना, दौड़ना यह गमन कर्म के अंतर्गत आता है। सभी कर्म प्रत्यक्ष नहीं हो सकते। पृथ्वी, जल, तेज आदि दृष्टिगोचर द्रव्यों की गति का ज्ञान प्रत्यक्ष से हो सकता है किंतु अगोचर मन की गति का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता।

4. सामान्य

इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है—नित्यमेकमनेकानुगतम् सामान्यम् अर्थात् सामान्य नित्य है, एक है और अनेक से युक्त है अर्थात् सामान्य कभी समाप्त नहीं होता इसलिए वह नित्य है। हर वर्ग का सामान्य एक होता है इसलिए वह एक है। सामान्य के अंतर्गत अनेक समाहित होते हैं, इसलिए उसे अनेकानुगत भी कहा गया है। जैसे मनुष्य नित्य है, यह एक है और इसमें सभी प्रकार के मनुष्य समाहित हैं। सामान्य के तीन भेद होते हैं—

पर सामान्य अत्यंत व्यापक सामान्य है। सबसे कम व्यापक सामान्य अपर सामान्य कहलाता है और जो पर से कम व्यापक तथा अपर सामान्य से अधिक व्यापक है उसे परापर कहते हैं। सत्ता पर सामान्य है क्योंकि इसके अंतर्गत ब्रह्मांड के सभी तत्त्व समाहित हो जाते हैं। घट अपर सामान्य है क्योंकि यह केवल घट वर्ग का सामान्य है। द्रव्यत्व परापर सामान्य है क्योंकि यह घट-पट की अपेक्षा से पर और सत्ता की अपेक्षा से अपर है।

5. विशेष सामान्य

यह विशेष पदार्थ वैशेषिक दर्शन की देन है। कोई अन्य संप्रदाय विशेष की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। यहां विशेष भेद-प्रतीति का हेतु माना गया है। यह सामान्य का विपरीत पदार्थ है। जो द्रव्य निरवयव होने के कारण नित्य हैं, उनके विशिष्ट व्यक्तित्व को ही विशेष कहते हैं। प्रत्यक्ष पदार्थों में भेद उनका प्रत्यक्ष करके किया जा सकता है किंतु निरवयव एवं अप्रत्यक्ष पदार्थों के भेद का निर्णय जिस पदार्थ से करते हैं, वह विशेष है, जैसे

एक परमाणु दूसरे परमाणु से, एक आत्मा दूसरी आत्मा से भिन्न है। इनका ज्ञान हमें जिससे होता है, वह विशेष पदार्थ है। नित्य द्रव्यों में रहने के कारण यह पदार्थ नित्य है। इस प्रकार के द्रव्य असंख्य हैं, इसलिए विशेष भी असंख्य हैं। विशेष का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, इसलिए यह परमाणु की तरह अगोचर पदार्थ हैं।

6. समवाय पदार्थ

समवाय पदार्थ को परिभाषित करते हुए प्रशस्तपाद भाष्य में कहा गया है—‘अयुत सिद्धान्तानामाधारधाराभूतानाम् यः संबंधः स समवायः’ अर्थात् आधार और आधेय के संबंध से युक्त जो है, वह समवाय संबंध है। संबंध दो प्रकार के होते हैं। संयोग संबंध, जो कुछ समय के लिए होता है जैसे पुस्तक और मेज का संबंध, किंतु समवाय संबंध आंतरिक होता है। यह नित्य संबंध है। संयोग संबंध का तो विभाग किया जा सकता है अर्थात् पुस्तक को मेज से हटाया जा सकता है किंतु समवाय संबंध का विभाग कभी नहीं हो सकता। यह नित्य संबंध है तथा आंतरिक संबंध है। संयोग और समवाय में निम्नानुसार अन्तर किया जा सकता है।

1. संयोग युतसिद्ध है तथा समवाय अयुतसिद्ध है।
2. संयोग का विभाग कर उसे बदल सकते हैं किंतु समवाय को बदला नहीं जा सकता।
3. संयोग दो स्वतंत्र पदार्थों में होता है जबकि समवाय आश्रय और आश्रयी भूत पदार्थ में होता है।
4. संयोग कृत्रिम संबंध है जबकि समवाय नैसर्गिक संबंध है।
5. संयोग बाह्य संबंध है और समवाय आंतरिक संबंध है।

7. अभाव पदार्थ

अभाव को वैशेषिक दर्शन में सातवां पदार्थ स्वीकार किया गया है। अभाव पदार्थ नास्ति शब्द का सूचक है। यह पदार्थ किसी के न होने का ज्ञान करता है। जैसे रात में सूर्य के अभाव का बोध इस अभाव पदार्थ से होता है। इसके दो भेद हैं—1. संसर्गाभाव 2. अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव का अर्थ किसी एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव जैसे अग्नि में शीतलता का अभाव। अन्योन्याभाव का अर्थ है एक वस्तु का दूसरी वस्तु नहीं होना जैसे अग्नि जल नहीं है। संसर्गाभाव के तीन भेद किए जाते हैं— प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यंताभाव। प्रागभाव जैसा कि नाम से स्पष्ट है कार्य की उत्पत्ति के पूर्व कारण में इसका अभाव होना जैसे कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है किंतु घड़ा बनने के पूर्व मिट्टी में इसका अभाव प्रागभाव कहलाता है। यह अभाव अनादि काल से चला आ रहा है किंतु निर्माण होते ही यह शांत कहलाएगा अतः प्रागभाव अनादि होने के साथ-साथ शांत है। प्रध्वंसाभाव—कार्य के नष्ट हो जाने पर उसके टुकड़ों में इसका अभाव होना यह प्रध्वंसाभाव है, जैसे घड़ा के टूटने से उसके कपालों में इसका अभाव होना। यह अभाव सादि और अनंत है। घड़े के टूटने का निश्चित समय होने के कारण इसे सादि कहा गया है किंतु उस घड़े के टुकड़ों में घड़े का अभाव अनंत काल तक रहेगा, इसलिए इसे अनंत भी कहा गया है।

1. अत्यंताभाव

दो वस्तुओं में त्रैकालिक संबंध के अभाव को अत्यंताभाव कहा गया है। जैसे वायु में रूप का अभाव। यह अभाव शाश्वत है। न तो कभी इसकी उत्पत्ति होती है और न कभी

इसका विनाश होता है। वायु के कभी रूप नहीं हो सकता इसलिए यह अत्यन्ताभाव है जो अनादि और अनन्त है।

2. अन्योन्याभाव

अर्थात् दो वस्तुओं का एक नहीं होना जब एक वस्तु दूसरी नहीं हो सकती तो उसे अन्योन्याभाव कहते हैं। अर्थात् घट पट नहीं हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि घट का पट के रूप में अभाव है। संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव में अंतर करते हुए कहा जा सकता है कि संसर्गाभाव में संबंध का अभाव है और अन्योन्याभाव में तादात्म्य का अभाव है।

वैशेषिक दर्शन में सातों पदार्थ इसलिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उनके ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

बोध प्रश्न

1. पदार्थ की विशेषताएं क्या हैं?
2. गुण कितने प्रकार के माने गये हैं?

4.12 परमाणुवाद

वैशेषिक का परमाणुवाद आध्यात्मिक सिद्धांत पर अवलंबित है। इसके अनुसार परमाणुओं की गति का सूत्रधार ईश्वर है जो जीवन के अदृश्य के अनुसार कर्म फल का भोग करने के लिए परमाणु की क्रिया को प्रवर्तित करता है। उसी की इच्छा से सृष्टि और प्रलय होते हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल तेज और वायु ये चार परमाणु हैं। दो परमाणुओं का संयोग द्वयणुक कहलाता है, तीन द्वयणुक का संयोग त्रयणुक और चार त्रयणुक का संयोग चतुर्णुक इस प्रकार पंचणुक आदि होते हैं। इन्हीं परमाणुओं के संयोग से सृष्टि और वियोग से प्रलय होता है। दो प्रलय के बीच की सृष्टि को कल्प कहते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वैशेषिक दर्शन में चार परमाणु, ईश्वर और अदृष्ट का जगत की संरचना में योगदान होता है।

बोध प्रश्न

1. परमाणु का क्या अर्थ है?
2. कल्प किसे कहते हैं?

4.13 निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में न्याय दर्शन एक ऐसा दर्शन है जिसमें प्रमाणशास्त्र पर बल दिया गया है। यहां के केन्द्र में चार प्रकार के प्रमाणों की मान्यता है। इन्हीं प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि होती है। अर्थात् पदार्थ विचार की सिद्धि होती है। न्याय और वैशेषिक दर्शन एक जुड़वें दर्शन के रूप में मान्य है। जहां न्याय दर्शन के केन्द्र में प्रमाण है, वहीं वैशेषिक दर्शन के केन्द्र में पदार्थ है।

4.14 अभ्यास के प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. न्याय दर्शन के अनुसार प्रमाण किसे कहते हैं? प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण पर प्रकाश डालिए।

अथवा

वैशेषिक दर्शन के अनुसार पदार्थ किसे कहते हैं? पदार्थ के स्वरूप एवं प्रकारों पर प्रकाश डालिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. निम्नलिखित में से किन्हीं पांच पर टिप्पणी लिखिए—

- | | | |
|---------------|--------------|---------------|
| (अ) प्रमेय | (ब) प्रमाता | (स) हेत्वाभास |
| (द) परमाणुवाद | (य) व्याप्ति | (र) समवाय |

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. प्रमा किसे कहते हो?
2. अनुमान में कितने पद होते हैं?
3. परार्थानुमान में कितने वाक्य होते हैं?
4. हेतु किसे कहते हैं?
5. न्याय दर्शन में कितने पदार्थ माने गये हैं?
6. वैशेषिक दर्शन में कितने पदार्थ माने गये हैं?
7. सामान्य से क्या तात्पर्य है?
8. दृष्टान्त किसे कहते हैं?
9. जल्प किसे कहते हैं?
10. न्याय दर्शन को किस दूसरे नाम से जाना जाता है?

4.15 अध्ययन हेतु ग्रंथ

- | | | |
|-----------------|---|---------------------------|
| 1. न्यायसूत्र | — | गौतम |
| 2. न्यायभाष्य | — | वात्स्यायन |
| 3. वैशेषिकसूत्र | — | महर्षि कणाद |
| 4. तर्कभाषा | — | केशव मिश्र |
| 5. तर्कसंग्रह | — | अन्नं भट्ट |
| 6. भारतीय दर्शन | — | डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी |
| 7. भारतीय दर्शन | — | डॉ. बद्रीनाथ सिंह |

इकाई—ट

वेदान्त दर्शन

संरचना:—

- 5.0 उद्देश्य
- 5.1 भूमिका
- 5.2 सदानन्द और वेदान्तसार
- 5.3 आदिशंकराचार्य
- 5.4 कारण कार्य सिद्धान्त
- 5.5 मायावाद
 - 5.5.1 मायावाद का खण्डन (रामानुज)
- 5.6 ब्रह्मविचार
 - 5.6.1 ब्रह्म के लक्षण
- 5.7 ब्रह्म और आत्मा
- 5.8 ब्रह्म विचार (रामानुज)
- 5.9 मोक्ष विचार
 - 5.9.1 मोक्ष का स्वरूप
 - 5.9.2 मोक्ष के प्रकार
 - 5.9.3 मोक्ष प्राप्ति के साधन
- 5.10 मोक्ष विचार (रामानुज)
- 5.11 निष्कर्ष
- 5.12 अभ्यास के प्रश्न
- 5.13 अध्ययन हेतु कुछ ग्रंथों के नाम

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य इस प्रकार हैं—

1. वेदान्त नाम की सार्थकता का ज्ञान हो सकेगा।
2. वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों की जानकारी हो सकेगी।
3. आचार्य शंकर के व्यक्तित्व के बारे में ज्ञान हो सकेगा।
4. आचार्य शंकर के अनुसार माया, ब्रह्म एवं मोक्ष विचारों का ज्ञान हो सकेगा।
5. रामानुज के अनुसार माया, ब्रह्म एवं मोक्ष विचारों का ज्ञान हो सकेगा।
6. शंकराचार्य के कार्य—कारण सिद्धान्त की जानकारी हो सकेगी।

7. शंकराचार्य एवं रामानुज के विचारों की तुलनात्मक विवेचना हो सकेगी।

5.1 भूमिका

वेदांत जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि वेदों के अंतिम भाग पर आधारित जो दर्शन है, वह वेदांत दर्शन कहलाता है। वेदों के चार भाग किए गए हैं— संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। इन चारों भागों में अंतिम भाग उपनिषद् है। इस अंतिम भाग पर आधारित दर्शन वेदांत दर्शन है। इस दर्शन के प्रवर्तक बादरायण व्यास को माना जाता है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र का निर्माण किया। इसे ही वेदांत सूत्र, शारीरिक सूत्र, शारीरिक मीमांसा या उत्तर मीमांसा कहते हैं। बादरायण व्यास ने भिक्षु या सन्यासियों के लिए ही इन सूत्रों की रचना की, अतः ब्रह्म सूत्र को भिक्षु सूत्र भी कहते हैं। ब्रह्म सूत्र में चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। इन चार अध्याय में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' आदि सूत्र से बादरायण ने उपनिषद् अर्थ का विचार किया है, इसीलिए इसे वेदांत कहा जाता है।

ब्रह्म सूत्र पर विभिन्न आचार्यों ने भाष्य लिखा, जिसमें प्रसिद्ध है शंकराचार्य का ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य इस भाष्य के आधार पर उन्होंने अद्वैतवाद की स्थापना की। श्री रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य लिखा। इसके आधार पर उन्होंने विशिष्टाद्वैत की स्थापना की। आचार्य मध्व ने पूर्णप्रज्ञ भाष्य लिखा और द्वैतवाद की स्थापना की। आचार्य निंबार्क ने सौरभ भाष्य लिखा और द्वैताद्वैत की स्थापना की। श्री वल्लभाचार्य ने सौरभ भाष्य लिखा और शुद्धाद्वैत की स्थापना की। इन सभी आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से वेदांत का प्रतिपादन किया है। इन सभी में शंकर भाष्य को सर्वोपरि माना जाता है। आचार्य शंकर ने जिस अद्वैतवाद की स्थापना की उसके पूर्व उनके गुरु के गुरु गौडपाद ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था। यह अद्वैतमत गौडपाद से गोविंदपाद और गोविंदपाद से शंकराचार्य के विचारों में व्यवस्थित हुआ अतः शंकराचार्य को अद्वैतवाद का प्रवर्तक मानते हैं।

5.2 सदानन्द और वेदांतसार

वेदान्तसार वेदान्त की परम्परा का अन्तिम ग्रन्थ है जिसके रचयिता सदानन्द योगी हैं। इसकी रचना १६वीं शताब्दी में हुई थी। वेदान्तसार, वेदान्त के सिद्धान्तों में सरलता से प्रवेश करने का मार्ग प्रशस्त करता है। इस दृष्टि से यह सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है।

वेदान्तसार के लेखक सदानन्द योगीन्द्र सरस्वती हैं। इनके शिष्य कृष्णानन्द सरस्वती थे जिनके शिष्य नृसिंह सरस्वती ने वेदान्तसार के ऊपर 'सुबोधिनी' नामक टीका लिखी थी। सुबोधिनी के लिखे जाने का समय शक सम्वत् 1510 अर्थात् 1588 ई० है अतः सदानन्द अवश्य ही इस तिथि के पूर्व हुए होंगे। सदानन्द ने 1386 ई० के बाद तथा 1588 ई० के पूर्व हुए ऐसी मान्यता है। सदानन्द के मंगलाचरण से प्रकट होता है कि उनके गुरु अद्वयानन्द सरस्वती थे। सदानन्द स्वयं भी 'सरस्वती' उपाधि से विभूषित थे। यह उपाधि शांकर-वेदान्त के सन्यासियों की दस उपाधियों में से एक सम्मानित उपाधि है। इस उपाधि से विभूषित सन्यासियों में अद्वैतसिद्धि के लेखक मधुसूदनसरस्वती तथा ब्रह्मानन्दीयम् के लेखक ब्रह्मानन्दसरस्वती जैसे विद्वान् हुए थे।

सदानन्द स्वयं भी अत्यन्त विद्वान् थे। उनके वेदान्तसार द्वारा हमें अद्वैत-वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्यों, उदाहरणतः गौडपाद, शंकर, पद्मपाद, हस्तामलक, सुरेश्वराचार्य, वाचस्पतिमिश्र, श्रीहर्ष तथा विद्यारण्य के सिद्धान्तों में प्रवेश प्राप्त होता है। इन सभी के सन्दर्भ हमें वेदान्तसार में प्राप्त होते हैं अतः यह निश्चित है कि सदानन्द ने इन सभी आचार्यों की कृतियों का अध्ययन किया होगा। इससे अधिक कुछ वेदान्तसार के रचयिता के विषय में ज्ञात नहीं होता।

5.3 आदि शंकराचार्य

शंकराचार्य ने अद्वैत मत की स्थापना की। उनका जन्म 788 ई में केरल प्रांत के काँडली ग्राम में नंबूदरी ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता शिव गुरु वेदांग ब्राह्मण थे। इन्होंने सात वर्ष की आयु में वेदों का अध्ययन संपन्न किया। आठ वर्ष की आयु में इन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। बारह वर्ष की अवस्था में बदरिका आश्रम में इन्होंने ब्रह्मसूत्र, उपनिषद, गीता आदि पर भाष्य लिखे तथा मात्र बत्तीस वर्ष की अवस्था में इन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ। इनके बारे में एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है—

अष्ट वर्षे चतुर्वेदी, द्वादशे सर्वशास्त्रविद्।

षोडशे कृतवान् भाष्यम्, द्वात्रिंशे मुनेरभ्यगात्।

मात्र 32 वर्ष की अवस्था में वैदिक संस्कृति के उद्धार के लिए उन्होंने जो कार्य किया, उसकी जितनी प्रशंसा की जाए कम है। उनके द्वारा लिखित ग्रंथ हैं— उपनिषद् भाष्य, गीता भाष्य, ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य, मांडूक्यकारिका भाष्य, विष्णुसहस्रनाम भाष्य, सौंदर्य लहरी, उपदेशसहस्रती इत्यादि। इन्होंने संपूर्ण भारत में घूम कर नास्तिकों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित कर वेदांत के ज्ञान कांड की प्रतिष्ठा की। उनकी अलौकिक प्रतिभा से प्रभावित होकर अनेक विद्वानों ने उनकी शिष्यता स्वीकार की। उनमें से एक बड़ा नाम मंडन मिश्र का माना जाता है। कर्मकांडी मंडन मिश्र शंकर के प्रभाव से वेदांती बने थे। शंकर भाष्य की अनेक व्याख्याएं लिखी गईं जिनमें दो प्रसिद्ध हैं—विवरण और भामती। शंकराचार्य के शिष्य पद्माचार्य ने सर्वप्रथम शंकर भाष्य पर पंचपादिका वृत्ति लिखी। पंचपादिका पर प्रकाशात्मयति की विवरण टीका प्रसिद्ध है। द्वितीय प्रस्थान भामती है जिसके रचयिता बाचस्पति मिश्रा हैं। भामती पर दो प्रसिद्ध टीकाएं लिखी गईं। अमलानंद की कल्पतरु टीका और अप्पयदीक्षित की परिमल टीका है।

5.4 कारण-कार्य सिद्धांत

शंकराचार्य के कारण-कार्य सिद्धांत को सत्कार्यवाद कहा जाता है। यह सिद्धांत न्याय-वैशेषिक के सत्कार्यवाद से भिन्न है। कारण से कार्य को भिन्न मानना यह असत्कार्यवाद है। इसे आरंभवाद भी कहते हैं। शंकराचार्य सत्कार्यवाद को मानते हैं और असत्कार्यवाद का खंडन करते हैं किंतु शंकराचार्य का सत्कार्यवाद सांख्य के सत्कार्यवाद से भिन्न है। सत्कार्यवाद के प्रायः दो भेद किए जाते हैं— परिणामवाद और विवर्तवाद। परिणामवाद वह है जिसमें कारण कार्य के रूप में वास्तविक रूप से बदलता है, जैसे दूध का

दही के रूप में परिवर्तन, मक्खन का घी के रूप में परिवर्तन, तिल का तेल के रूप में परिवर्तन। यह परिवर्तन वास्तविक हैं। इनमें कारण दूध, मक्खन और तिल का दही, घी एवं तेल के रूप में वास्तविक परिवर्तन हुआ है। शंकराचार्य इस वास्तविक परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके अनुसार कारण का कार्य के रूप में वास्तविक परिवर्तन नहीं होता, अपितु परिवर्तन का आभास होता है विवर्त होता है और इसीलिए शंकर के कारण और कार्य के सिद्धांत का नाम विवर्तवाद है। शंकराचार्य स्पष्ट करते हुए लिखते हैं की कार्य मूलत मिथ्या है। वस्तुतः कारण से भिन्न कार्य नहीं है। वास्तव में शंकर का सत्कार्यवाद ही सत्कारणवाद और विवर्तवाद हैं। उनके अनुसार कदापि और कथमपि कार्य कारण से भिन्न नहीं है। वह कारण को ही एकमात्र सत् मानते हैं तथा कार्य को केवल आभास मात्र मानते हैं। कारण और कार्य का अभेद संबंध स्वीकार करते हैं। वह न तो सांख्य की तरह प्रकृति परिणामवादी हैं और न ही रामानुज की तरह ब्रह्म परिणामवाद, क्योंकि ये दोनों कारण के साथ-साथ कार्य को भी सत् मानते हैं, जबकि शंकराचार्य एकमात्र कारण को ही सत् मानते हैं। कार्य को मिथ्या या आभास मात्र मानते हैं, इसीलिए शंकराचार्य का कारण-कार्य संबंधी सिद्धांत सत्कार्यवाद, सत्कारणवाद या विवर्तवाद कहा जाता है।

5.5 मायावाद (शंकर)

जिस प्रकार बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद, जैन दर्शन में अनेकांतवाद प्रसिद्ध है, उसी तरह से अद्वैत वेदांत दर्शन में मायावाद प्रसिद्ध है। मायावाद शंकर वेदांत का आधारभूत सिद्धांत है क्योंकि इसी मायावाद के आधार पर शंकर दर्शन में अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा हुई है। माया, अविद्या, अध्यास, भ्रांति, भ्रम आदि सभी समानार्थक माने गए हैं। शंकराचार्य ने इस मायावाद के आधार पर विश्व की व्याख्या की, इसलिए उनका यह मायावाद प्रसिद्ध है। माया शब्द की खोज शंकराचार्य द्वारा नहीं की गई बल्कि यह शब्द बहुत पहले से चला आ रहा था। ऋग्वेद में माया को रहस्यात्मिका शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से मिलता है की एक इंद्र अपनी माया शक्ति के द्वारा अनेक रूपों में प्रतीत होते हैं। उपनिषदों में भी माया का उल्लेख कई बार आया है। श्वेताश्वतर उपनिषद में बतलाया गया है कि माया ईश्वर की उपाधि है तथा माया के कारण ही जगत् का निर्माण होता है। तात्पर्य है कि मायोपाधिक ईश्वर ही जगत् का कारण है। कहा गया है—‘माया तु प्रकृतिं विद्यात्, मायिनं तु महेश्वरः’ अर्थात् यहां माया को प्रकृति कहा गया है तथा माया की अधिष्ठाता स्वरूप ब्रह्मा को मायावी कहा गया है। ब्रह्म माया के कारण ही संपूर्ण दृश्यमान जगत् में व्याप्त है। प्रश्नोपनिषद में बताया गया है कि झूठ, वंचना और भ्रम से रहित व्यक्ति ही शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। भगवद्गीता में कई बार माया का वर्णन आया है। यहां उल्लेख है कि योग शक्ति से भगवान समस्त जगत् को धारण किए हैं। यही योग शक्ति योग माया है, इसलिए भगवान कहते हैं कि मैं अजन्मा और अविनाशी रूप होते हुए, समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योग माया से प्रकट होता हूं। शंकर मत में माया ब्रह्म की शक्ति है। परमेश्वर की यह अदृश्य शक्ति अव्यक्त शब्द से कही गई है। माया ईश्वर की शक्ति है जिस तरह से अग्नि की दाहकता अग्नि से अभिन्न

है, इसी तरह माया भी ईश्वर से अभिन्न है। इसी माया के द्वारा मायावी ईश्वर विविधता पूर्ण सृष्टि का निर्माण करते हैं। उनकी इस लीला को अज्ञानी सत्य समझ लेते हैं किंतु जो तत्त्वज्ञानी है, वे इस लीला को समझ जाते हैं और इस मायावी संसार में केवल ब्रह्म ही उन्हें सत्य जान पड़ता है। शंकर के मायावाद की अनेक विशेषताएं हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. माया ब्रह्म की शक्ति है। यह अदृश्य शक्ति है या अपने कार्य से जानी जाती है।
2. माया अनादि है। इसका कोई प्रारंभ नहीं है। यह अनादि काल से चली आ रही है।
3. माया विज्ञाननिरस्या है अर्थात् माया अनंत नहीं है। ब्रह्म के ज्ञान हो जाने पर माया का अंत हो जाता है और इसके अंत होने पर व्यक्ति मुक्त हो जाता है।
4. माया प्रकृति है किंतु सांख्य की प्रकृति की तरह यह स्वतंत्र नहीं है। जिस प्रकार सांख्य की प्रकृति—पुरुष से स्वतंत्र है, उसी प्रकार माया ब्रह्म से स्वतंत्र नहीं है।
5. माया त्रिगुणात्मिका है। सत, रज और तम से युक्त माया है। ये तीन गुण ही माया के स्वरूप हैं और माया अपने इन तीन गुणों से व्यक्ति को बांधती है।
6. यह कभी उत्पन्न नहीं होती है। यह सदा से चली आ रही है, इसलिए इसे अजा कहा गया है।
7. माया को अविद्या कहा गया है। यह अज्ञानरूप है और बंधन उत्पन्न करती है।
8. इसे अध्यास कहा गया है। माया अध्यास रूप है। अध्यास का अर्थ होता है जहां एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु को प्रतिपादित किया जाता है, वह अध्यास है, जैसे रस्सी में सर्प का अध्यास, इसलिए माया को अध्यास रूप कहा गया है।
9. माया अनिर्वचनीय है। माया को अनिर्वचनीय कहा गया है अर्थात् चार कोटियों से माया की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती इसलिए माया अनिर्वचनीय है। यह सत्य नहीं है क्योंकि ज्ञान होने पर नष्ट हो जाती है। यह असत्य भी नहीं है क्योंकि इसका प्रत्यक्ष होता है। यह सत्य—असत्य दोनों नहीं है क्योंकि अंधकार और प्रकाश एक साथ नहीं रह सकते हैं। यह न सत और न असत् है क्योंकि ऐसी कोई कोटि नहीं है अतः माया अनिर्वचनीय है।
10. माया मिथ्या सृष्टि का बोध कराती है अर्थात् जगत के मिथ्या स्वरूप का आभास माया के द्वारा ही होता है। माया आच्छादित ब्रह्म ही जगत के रूप में दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और जगत मिथ्या है। ऐसे मिथ्या जगत को प्रतिपादित करने वाली माया है।
11. माया की दो शक्तियां हैं— आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति। आवरण शक्ति के द्वारा माया ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आवृत करती है और विक्षेप शक्ति के द्वारा उसके स्थान पर जगत को प्रतिपादित करती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं की आवरण शक्ति रस्सी के वास्तविक स्वरूप को छुपाती है और विक्षेप शक्ति उसके स्थान पर सर्प को प्रतिपादित करती है जिसके कारण रस्सी में सर्प का भ्रम होता है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि शंकर मत में मायावाद अत्यधिक प्रसिद्ध है क्योंकि माया के कारण शंकर के अद्वैत की सिद्धि के साथ-साथ जगत् के मिथ्यात्व का प्रत्यक्ष भी होता है। ब्रह्म की शक्ति होने के कारण जहां शंकर का अद्वैतवाद सुरक्षित रहता है, वही जगत् की भी अभिव्यक्ति होती है और प्रत्यक्ष जगत् का आभास जनता जनार्दन को होता है, इसलिए शंकर दर्शन में मायावाद का सिद्धांत महत्वपूर्ण है।

5.5.1 मायावाद का खण्डन (रामानुज)

शंकराचार्य के मायावाद सिद्धांत से आचार्य रामानुज संतुष्ट नहीं थे, अतः उन्होंने शंकराचार्य के मायावाद का खंडन भी किया है। मायावाद पर उन्होंने कई आक्षेप किए हैं। अद्वैतवाद की तरफ से उनका समाधान भी किया गया। यहां शंकर के मायावाद पर रामानुज के मुख्य आक्षेपों को प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. आश्रयानुपपत्ति—

प्रश्न उठता है कि यदि माया है तो उसका आश्रय कौन सी सत्ता है? यदि हम माया का आश्रय ब्रह्म को कहें तो एक अज्ञान स्वरूप माया का आश्रय ज्ञान स्वरूप ब्रह्म कैसे हो सकता है? अर्थात् माया का आश्रय ब्रह्म नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या माया का आश्रय जीव हो सकता है? तो जहां तक वेदांत की दृष्टि है हम यह कह सकते हैं कि जब मायाच्छादित ब्रह्म होता है तभी जीव की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् जीव माया का कार्य है। प्रश्न यह उठता है कि क्या कोई कारण अपने कार्य पर आश्रित हो सकता है? जब कार्य पर कारण आश्रित नहीं हो सकता तो इसका तात्पर्य है कि जीव भी माया का आश्रय नहीं हो सकता और जब माया का आश्रय न ब्रह्म है न जीव है तो फिर माया का अस्तित्व कैसे हो सकता है?

2. तिरोधानुपपत्ति—

शंकराचार्य के अनुसार जब माया ब्रह्म को आच्छादित कर लेती है तो जगत् दृष्टिगोचर होता है तो रामानुज कहते हैं की ब्रह्म तो शुद्ध स्वरूप है, वह स्वयं प्रकाश है, उसका आवरण कथमपि संभव नहीं है। अंधकार से कहीं प्रकाश का आवरण हो सकता है बल्कि हम देखते हैं कि प्रकाश से अंधकार की निवृत्ति होती है और यदि मान भी लिया जाए की माया ब्रह्म का तिरोधान अर्थात् आवरण करती है तो फिर ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप समाप्त हो जाएगा अतः माया के द्वारा ब्रह्म का तिरोधान संभव नहीं है।

3. स्वरूपानुपपत्ति—

यहां अब यह प्रश्न उठता है कि यदि माया है तो उसका स्वरूप क्या है? माया का स्वरूप भाव रूप है या अभाव रूप? शंकराचार्य माया के स्वरूप को भाव रूप मानते हैं। रामानुज कहते हैं कि जो भाव रूप है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता और यदि माया भाव रूप है तो उसका कभी अभाव नहीं होगा और जब अभाव नहीं होगा तो इसका मतलब मोक्ष का अस्तित्व संभव नहीं हो सकता। हम सब जानते हैं कि शंकर दर्शन में मोक्ष को

अत्यधिक महत्त्व दिया गया है अतः माया के भाव रूप को स्वीकार करना संभव नहीं प्रतीत होता है।

4. प्रमाणानुपपत्ति—

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि माया का अस्तित्व है तो उसका किसी न किसी प्रमाण से ज्ञान होना चाहिए और यदि किसी प्रमाण से ज्ञान नहीं होता है तो फिर हम उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं कर सकते। ज्ञान का एक माध्यम है प्रत्यक्ष प्रमाण और हम जानते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण से किसी सत या असत वस्तु का ज्ञान होता है। शंकराचार्य माया को न सत मानते हैं और न असत मानते हैं। इसका मतलब प्रत्यक्ष से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। यदि प्रत्यक्ष से माया का ज्ञान नहीं हो सकता तो अनुमान से होना चाहिए। अनुमान का आधार व्याप्ति है। शंकराचार्य माया को अनिर्वचनीय मानते हैं। अनिर्वचनीयत्व तथा माया में कोई व्याप्ति नहीं बनती है, इसलिए अनुमान से भी माया का ज्ञान नहीं हो सकता। श्रुतियों से भी माया का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि श्रुतियों में माया को परमेश्वर की शक्ति बतलाया गया है जिसके द्वारा ईश्वर विश्व की सृष्टि करता है किंतु शंकराचार्य को यह सृष्टि मान्य नहीं है अतः शंकर के माया का ज्ञान श्रुति प्रमाण से भी संभव नहीं है अतः यह कहना उचित होगा कि किसी भी प्रमाण से माया का ज्ञान न हो पाने के कारण शंकर का माया सिद्धांत उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है।

5. अनिर्वचनीयानुपपत्ति—

यदि माया है तो उसका स्वरूप क्या है। शंकराचार्य ने माया को अनिर्वचनीय कहा किंतु रामानुज के अनुसार माया अनिर्वचनीय नहीं हो सकती। रामानुज कहते हैं कि किसी वस्तु के बारे में वचन के द्वारा कुछ कहना भी तथा यह कहना भी कि वह अनिर्वचनीय है, यह स्पष्ट विरोध है। कोई तर्कशास्त्र का विद्यार्थी जानता है कि सत् और सत-असत इन दो कोटियों में संसार की सभी वस्तुएं समाहित हैं। इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है अतः माया को अनिर्वचनीय कहना उपयुक्त नहीं है।

6—निवर्तकानुपपत्ति—

रामानुज कहते हैं कि अगर माया है तो उसका कोई निवारण करने वाला होना चाहिए। अद्वैत वेदांत के अनुसार उसका निवारण करने वाला ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान है। रामानुज के अनुसार पूर्ण एक्य या अभेद असंभव है। अभेद जब भी होगा तो वह भेद युक्त होगा अतः अभेद ज्ञान कभी माया का निवर्तक नहीं हो सकता इसलिए शंकर की माया उचित नहीं है।

7—निवृत्त्यानुपपत्ति—

रामानुज कहते हैं कि यदि माया है और वह भाव रूप है तो उसकी निवृत्ति संभव नहीं है और जब निवृत्ति नहीं होगी तो इसका मतलब मोक्ष संभव नहीं होगा अर्थात् शंकर की माया को स्वीकार करने से मोक्ष सिद्धांत पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगता है। यहां स्पष्ट रूप से रामानुज शंकर की अविद्या निवृत्ति रूप मोक्ष को स्वीकार करते हैं। यहां तक भी मानना है कि केवल ज्ञान से मोक्ष नहीं होता है, मोक्ष भक्ति पूर्वक कर्मसाध्य है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि शंकराचार्य ने माया सिद्धांत का जो व्यवस्थित विवेचन अपने दर्शन में किया है और जिस विस्तृत फलक पर शंकर का मायावाद स्थिर है इस फलक का खंडन,

कर रामानुज ने शंकर के मायावाद को कटघरे में खड़ा किया है अर्थात् उपर्युक्त सातो अनूपपत्तियों के द्वारा शंकर मायावाद का खंडन करते हैं। कहा जाता है कि शंकराचार्य के अनुयायियों ने रामानुज के इस खण्डन का प्रत्युत्तर भी दिया है और इन दोनों संप्रदायों के अनुयायियों के द्वारा यह खण्डन—मंडन अब तक चला आ रहा है।

5.6 ब्रह्म विचार

शंकराचार्य के अद्वैतवाद के केंद्र में ब्रह्म का सिद्धांत है। शंकराचार्य परम सत्ता के रूप में ब्रह्म को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार तीन प्रकार की सत्ता मानी जाती है—प्रतिभासिक सत्ता, व्यवहारिक सत्ता एवं पारमार्थिक सत्ता। प्रतिभासिक सत्ता उस सत्ता को कहते हैं जो क्षण भर के लिए अस्तित्व में आभासित होती है। रात के अंधेरे में प्रायः हम रस्सी को सर्प के रूप में समझ लेते हैं। रस्सी का सर्प रूप में ज्ञान कर लेना उसके अनुसार क्रिया करना, यही अध्यास है। इसी सत्य को शंकराचार्य प्रतिभासिक सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। यह मूलतः सत्य नहीं है अपितु क्षण भर के लिए सत्य का आभास होता है। जैसे ही प्रकाश आदि उपलब्ध होने पर हम यह समझ जाते हैं कि यह सर्प नहीं, रस्सी है। इसकी वास्तविकता रस्सी की है। सर्प तो क्षणिक सत्य है। यही अध्यास है, अविद्या है, माया है, भ्रम है, विवर्त है।

व्यवहारिक सत्ता वह सत्ता है जो अज्ञान की कालावधि तक सत् रहता है अर्थात् जब तक व्यक्ति अज्ञानता के गहन कूप में पड़ा रहता है, तब तक उसे व्यावहारिक सत्य का ज्ञान होता है। शंकराचार्य ने जगत को व्यवहारिक सत्य के रूप में स्वीकार किया है क्योंकि यह तब तक ही सत्य रहता है जब तक व्यक्ति अज्ञान में रहता है अर्थात् व्यवहारिक सत्ता का अस्तित्व तब तक रहता है, जब तक व्यक्ति को ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् जगत मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है इस सच्चाई का ज्ञान हो जाता है अतः जगत व्यवहारिक सत्य है।

शंकराचार्य ने पारमार्थिक सत्ता के रूप में एकमात्र ब्रह्म को स्वीकार किया है। अपने शंकर भाष्य में वह लिखते हैं कि 'एकमेवपरमार्थ सत् अद्वयं ब्रह्म' अर्थात् एकमात्र पारमार्थिक सत्ता के रूप में ब्रह्म का अस्तित्व है। वह ब्रह्म एक है, अद्वैत रूप है। ब्रह्म शब्द बृह् धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है वृद्धि को प्राप्त होना। वृद्धि को प्राप्त करने वाला महान कहा जाता है। शंकर के अनुसार ब्रह्म सर्वशक्तिमान है क्योंकि वह सबसे महान है, इसे ब्रह्म की संज्ञा इसलिए दी गई है क्योंकि इससे महान कोई अन्य सत्ता नहीं है।

5.6.1 ब्रह्म के लक्षण

शंकराचार्य ने ब्रह्म के दो लक्षण स्वीकार किए हैं—एक स्वरूप लक्षण और दूसरा है तटस्थ लक्षण। ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सत्य है, ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है और ब्रह्म अनन्त है। जब हम ब्रह्म का स्वरूप सत्य के रूप में देखते हैं तो इसका तात्पर्य है कि वह त्रैकालिक सत्य है। दूसरे शब्दों में उसे कालातीत भी कह सकते हैं अर्थात् वह किसी काल विशेष की सीमा से परे है। भूत, वर्तमान और भविष्य सभी कालों में

उसका अस्तित्व है, इसलिए उसे सत्य कहा गया है। वह ज्ञान रूप है। उसमें अज्ञान का अंश मात्र भी नहीं है। पूरे ब्रह्मांड में घटित होने वाली घटनाओं से वह हर क्षण भिन्न रहता है। वह सब कुछ जानता है। उससे कुछ भी छिपा हुआ नहीं है, इसलिए उसे ज्ञान स्वरूप कहा गया है। वह सान्त नहीं अनंत है। किसी सीमित सत्ता को सान्त कहा जा सकता है किंतु जो असीम है, जिसकी कोई सीमा ही नहीं है।

जो स्वयं सीमातीत है, वह कभी सान्त नहीं हो सकता, वह अनंत ही है, अनंत ही कहलाएगा। इस प्रकार शंकराचार्य ब्रह्म के स्वरूप लक्षण को प्रतिपादित करते हैं। ब्रह्म अपने इसी स्वरूप के कारण जाना जाता है।

ब्रह्म का दूसरा लक्षण तटस्थ लक्षण है, जिसके माध्यम से ब्रह्म को सृष्टि का कर्ता, पालक और संहारक माना गया है। अर्थात् ब्रह्म अपने इस तटस्थ लक्षण के कारण वह जगत का कर्ता, जगत का पालक और संहारक है। 'एको अहम बहुस्याम' यह सूत्र ब्रह्म को सृष्टि कर्ता के रूप में प्रस्तुत करता है। 'एकमेवपरमार्थ सत् अद्वयं ब्रह्म, माययाविद्यया विविधा अनेकधा विभास्यते' अर्थात् ब्रह्म एक है, पारमार्थिक सत् है, अद्वैत है, ब्रह्म अपनी शक्ति माया अथवा अविद्या के कारण अनेक रूपों में प्रकट होता है। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य में यह कहा गया है कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यं प्रयन्ति अभिशं विशन्ति, तद् विजिज्ञासश्च ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म वह है जिससे यह सारा संसार उत्पन्न होता है, जिस पर यह सारा संसार निर्भर है और अंत में जिसमें यह सारा संसार समाहित हो जाता है। इस जगत का अस्तित्व ही ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है, स्वरूप लक्षण नहीं है। यह ब्रह्म का औपाधिक गुण है, वास्तविक स्वरूप नहीं है। शंकराचार्य ने एक दृष्टांत के द्वारा इस भेद को स्पष्ट किया है। एक गडेरिया रंगमंच पर राजा का अभिनय करता है। वह अनेक देश जीतकर उस पर शासन करता है किंतु वास्तव में वह गडेरिया है। रंगमंच पर वीर राजा का रोल करता है, राज्य जीतता है किंतु जैसे ही रंगमंच से नीचे उतरता है, वह मूलतः गडेरिया रह जाता है। जैसे राजा के रूप में किए गए कार्य का गडेरिया के वास्तविक जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आता है। गडेरिया का स्वरूप अपना वास्तविक स्वरूप होता है, वैसे ही ब्रह्म का जगत के रूप में जो भी लीला है, उसका ब्रह्म पर कोई असर नहीं पड़ता है। ब्रह्म के इस यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए शंकर मायावी का दृष्टांत देते हैं। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में वह लिखते हैं कि 'जादूगर केवल उन्हीं लोगों की दृष्टि में अद्भुत है जो उसकी माया या छल से ठगे जाते हैं और उसके दिखलाए हुए मायाजाल को सत्य समझते हैं, परंतु जो लोग उसके मायाजाल में नहीं फंसते और उसकी चालाकी समझ जाते हैं, उनकी दृष्टि में वह जादू अद्भुत या आश्चर्यजनक नहीं रहता।' इसी तरह जो जगत रूपी मायाजाल के भुलावे में आ जाते हैं, वह ईश्वर को मायावी के रूप में देखते हैं, परंतु जो तत्त्वज्ञानी हैं, उनके लिए न कोई वास्तविक सृष्टि है और न ही वास्तविक सृष्टि कर्ता। जैसे मायावी अपनी किसी माया से प्रभावित नहीं होता, दूसरों को भले ही अपनी माया से प्रभावित करता है, वैसे ही जगत के सुख-दुख, पाप-पुण्य आदि विषयों से ब्रह्म भी प्रभावित नहीं होता है।

शंकर ब्रह्म को निर्गुण, निर्विशेष एवं निरोपाधि मानते हैं। उनके अनुसार अद्वैत ब्रह्म में न तो कोई गुण है और न कोई विकार है और न ही कोई उसकी उपाधि है। अब प्रश्न यह उठता है कि निर्गुण, निर्विकार ब्रह्म का ज्ञान कैसे हो सकता है? जब ब्रह्म निर्गुण है तो उसका बोध कैसे हो सकता है? हम जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु अपने स्वाभाविक गुणों के द्वारा जाना जाता है। यदि ब्रह्म का कोई स्वाभाविक गुण नहीं है तो उसका ज्ञान कैसे हो सकता है? शंकराचार्य के अनुसार जानने की दो विधियाँ हैं— एक सेति—सेति की विधि और एक नेति—नेति की विधि। गुणवान सत्ता का ज्ञान सेति—सेति की विधि से होता है किंतु निर्गुण सत्ता का ज्ञान नेति—नेति की विधि से होता है। इस विधि से तात्पर्य है कि ब्रह्म केवल यही नहीं है, यही नहीं है अर्थात् ब्रह्म सब कुछ है और यदि किसी विशेष गुण से उसको बोधित करेंगे तो उसके अलावा अन्य समस्त गुणों का उसमें अभाव हो जाता है। संभवत इसीलिए शंकराचार्य ने नेति—नेति की विधि से ब्रह्म को जानने का प्रयत्न किया है। आचार्य शंकर ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए कहते हैं कि संसार के सभी परिवर्तनशील विषयों का मूल अधिष्ठान शुद्ध निर्विशेष सत्ता है और वह ब्रह्म है। विषयों के परस्पर बाधित होने के कारण पूर्ण सत्य कभी बाधित नहीं होता है और वह पूर्ण सत्य ब्रह्म है। केवल शुद्ध सत्ता ही, संभाव्य विरोध से रहित होने के कारण एकमात्र निरपेक्ष सत्य है और यह निरपेक्षता ब्रह्म है। शुद्ध सत्ता अनंत चैतन्य स्वरूप है और यह अनंत चौतन्य स्वरूप ब्रह्म है। यह परम सत्ता सच्चिदानंद स्वरूप है और यह सत्य, ज्ञान तथा अनंत रूप है। इसे ही ब्रह्म कहा गया है। शंकराचार्य इसी ब्रह्म से माया शक्ति के द्वारा जगत के विकास को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह माया या श्रेष्ठ शक्ति पहले अपने आपको व्यक्त करती है, उसके बाद सूक्ष्म विषयों में व्यक्त होती है और तत्पश्चात् स्थूल विषयों में आकार लेती है। इस अव्यक्त माया का आश्रय होने के कारण ब्रह्म को सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ ईश्वर का नाम दिया गया है। यह ब्रह्म का वह रूप है जो वास्तविक सृष्टि से पहले अव्यक्त या माया के साथ रहता है, जब माया सूक्ष्म रूप से व्यक्त होती है, तब उसका आधार ईश्वर होता है।

5.7 ब्रह्म और आत्मा

शंकराचार्य अद्वैतवाद के उपासक हैं। उनके अनुसार एक विषय का दूसरे विषय में भेद, ज्ञाता का ज्ञेय में भेद तथा जीव और ईश्वर का भेद यह सब माया की सृष्टि है। ब्रह्म का विचार है कि वस्तुतः एक ही तत्त्व है और अनेक तत्त्व मिथ्या है। उनके अनुसार मनुष्य, शरीर और आत्मा के संयोग से बना हुआ जान पड़ता है परंतु जिस शरीर का हम प्रत्यक्ष करते हैं, वह अन्य भौतिक विषयों की तरह माया की सृष्टि है। इसी बात का ज्ञान हो जाने पर आत्मा और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं रह जाता है—‘अयमात्मा ब्रह्म’, ‘तत्त्वमसि’ वाक्य आत्मा और ब्रह्म की एकता को व्यक्त करते हैं। तत्त्वमसि में त्वम् से शरीर की उपाधि से युक्त प्रत्यक्ष जीव विशेष समझा जाए और तत् से परमतत्त्व या ब्रह्म का बोध हो तो तत्त् और त्वम् में भेद संबंध नहीं हो सकता। त्वम् से जीव का अधिष्ठान रूप शुद्ध चैतन्य और तत् से परोक्ष तत्त्व का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य समझना चाहिए। इन दोनों में पूर्ण अभेद है। यही वेदांत की शिक्षा है। तत्त्व शब्द का मुख्य अर्थ है परोक्षत्व सर्वज्ञ आदि उपाधियों से विशिष्ट

चैतन्य अथवा ब्रह्म और त्वम् शब्द का मुख्य अर्थ है अल्पज्ञ तत्त्व आदि उपाधियों से विशिष्ट चैतन्य अथवा जीव इन दोनों का विरुद्ध अंश त्याग करके उभयनिष्ठ शुद्ध चैतन्य का ग्रहण करके दोनों का अभेद समझना चाहिए। यही 'तत्त्वमसि' महावाक्य का तात्पर्य है और यही 'अयमात्मा ब्रह्म' का भी अर्थ है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद को उनके एक वाक्य से समझा जा सकता है, जब वह कहते हैं—'ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।' इस एक वाक्य में अद्वैत का हार्द निहित है।

5.8 ब्रह्म विचार (रामानुज)

रामानुज को विशिष्टाद्वैतवाद का प्रवर्तक माना जाता है। विशिष्टाद्वैतवाद से तात्पर्य है विशेषण युक्त अद्वैत। रामानुज अद्वैत को मानते हैं, किंतु निर्गुण अद्वैत को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार अद्वैत गुण युक्त है, विशेषण युक्त है। वह ब्रह्म के चित् और अचित् ये दो विशेषण मानते हैं। ब्रह्म की एकमात्र सत्ता मानते हैं। उससे पृथक् या स्वतंत्र किसी वस्तु की सत्ता को नहीं मानते हैं, परंतु उसमें जो चित् रूप जीव और अचित् रूप प्रकृति है, उसे भी वे वास्तविक मानते हैं। इसीलिए रामानुज का अद्वैतवाद विशिष्टाद्वैत कहलाता है क्योंकि उनके अनुसार चित् और अचित् से विशिष्ट होते हुए भी ब्रह्म एक ही है। उसकी एकता भेद रहित नहीं है। प्रायः तीन प्रकार के भेद माने जाते हैं—

1. विजातीय भेद—जैस— स्त्री और पुरुष का भेद।
2. सजातीय भेद—एक पुरुष का दूसरे पुरुष से भेद।
3. स्वगत भेद—एक पुरुष के हाथ और पैर का भेद।

उपर्युक्त भेदों में प्रथम और द्वितीय भेद अर्थात् विजातीय और सजातीय भेद ब्रह्म में नहीं माना जा सकता किंतु रामानुज के अनुसार ब्रह्म में तीसरा स्वगत भेद माना जा सकता है क्योंकि स्वगत भेद में एक ही सत्ता के दो गुणों का आपस में भेद होता है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म में अनंत गुण समाहित है। वह सर्वशक्तिमान सत्ता है, वह सर्वज्ञ सत्ता है, वह कृपालु और दयालु भी है, अतः ब्रह्म सगुण है, निर्गुण नहीं है। जब चित् और अचित् दोनों ब्रह्म के अंश हैं तब भौतिक विकार का अर्थ हुआ ब्रह्म का विकार। इस तरह ब्रह्म का परिणामी होना सूचित होता है। उनके अनुसार जिस तरह शारीरिक विकारों से आत्मा प्रभावित नहीं होती है, उसी तरह जगत के विकारों से ईश्वर प्रभावित नहीं होता है, वह ईश्वर अथवा ब्रह्म उन सबसे परे है। अपने श्रीभाष्य में रामानुज इस विषय को समझाने के लिए राजा और प्रजा की उपमा देते हैं। उनके अनुसार राजा की आज्ञा के पालन से प्रजा को जो सुख—दुख होता है। उसका कारण राजा नहीं होता है। अपने श्री भाष्य में वह यह भी कहते हैं कि ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप अपरिणामी है और वह जगत् के विकारों से किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होता है। रामानुज ईश्वर को सगुण मानते हैं। उनका ईश्वर उपासना का विषय और धार्मिक साधना का लक्ष्य है। प्रार्थना के द्वारा ईश्वर को संतुष्ट कर उसकी कृपा से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

5.9 मोक्ष विचार

आचार्य शंकर मोक्ष की प्राप्ति को अद्वैत वेदांत का अंतिम लक्ष्य मानते हैं। मुक्ति, मोक्ष का पर्यायवाची शब्द है। मुच् धातु क्तिन प्रत्यय से मुक्ति बना है। मुच् का मतलब होता है छोड़ना। प्रश्न उठता है कि मोक्ष में क्या छूटता है? कोई बंधन छूटने की बात करता है, कोई जन्म-जन्मांतर छूटने की बात करता है, कोई दुःखों के छूटने की बात करता है तो कोई अज्ञान से मुक्त होने की बात करता है। शंकराचार्य के अनुसार क्योंकि बंधन अज्ञान के द्वारा होता है तो इसलिए अज्ञान से मुक्ति ही सही मायने में मोक्ष है। शंकराचार्य एक प्रत्यक्ष उदाहरण से अज्ञानता को समझाते हुए कहते हैं कि कभी-कभी ऐसा होता है की कान के ऊपर पेन रख लेते हैं और उस पेन को हम चारों तरफ ढूँढते हैं। प्राप्त न होने पर आकुल-व्याकुल होते हैं, किंतु जैसे ही पता चलता है कि पेन कान के ऊपर है तो अत्यंत सुख की प्राप्ति होती है। वैसे ही अज्ञानता के कारण इस संसार में भटकते हुए जब यह बोध हो जाता है कि यह संसार मिथ्या है, यह हमारी अज्ञानता के कारण है तो अपनी अज्ञानता का बोध होने से जो सुख की प्राप्ति होती है, वही परमार्थिक सुख है। ब्रह्मसूत्रशंकरभाष्य में मोक्ष की परिभाषा देते हुए शंकराचार्य कहते हैं—‘इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थं नित्यं व्योमवत् सर्वव्यापि सर्वक्रियारहितं नित्यतृप्तं स्वयंज्योतिस्वभावं। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्’ अर्थात् मोक्ष कोई प्रातिभासिक सत्ता नहीं है, कोई व्यावहारिक सत्ता नहीं है अपितु यह परमार्थिक सकता है। मोक्ष अनित्य नहीं है। एक बार प्राप्त हो जाने के बाद यह कभी समाप्त नहीं होता है, इसलिए नित्य है और आकाश की तरह अत्यंत व्यापक है। मोक्ष सीमित नहीं है, असीम है, व्यापक है। मोक्ष प्राप्ति के बाद व्यक्ति की क्रियाशीलता अवरुद्ध हो जाती है। वह समस्त प्रकार की कियाओ से अपने आपको निरुद्ध कर लेता है। वह सदा-सदा के लिए तृप्त होने वाली सत्ता है अर्थात् मुक्तावस्था परमानंद की अवस्था है और यह परमानंद की अवस्था कालिक नहीं, त्रैकालिक है। यह अवस्था स्वतःसिद्ध अवस्था है, स्वयं प्रकाशरूप अवस्था है अर्थात् मुक्त आत्मा का प्रकाश उसका स्वयं अपना है। इस प्रकार अशरीरी अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

5.9.1 मोक्ष का स्वरूप

शंकराचार्य के अनुसार मुक्तात्मा सच्चिदानंद स्वरूप वाली आत्मा होती है। इसके निषेधात्मक स्वरूप के बारे में तो यही कहा जा सकता है कि इस अवस्था में आत्मा अविद्या मुक्त हो जाता है, इसमें किसी भी प्रकार का दुःख नहीं रहता है, दैहिक, दैविक और भौतिक सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त अवस्था है। यह समस्त प्रकार के भेद रहित अवस्था है। शंकराचार्य इस अवस्था को आत्मा और ब्रह्म की एकरूपता मानते हैं अर्थात् मुक्त अवस्था में आत्मा और ब्रह्म एक हो जाते हैं। उनके अनुसार—‘ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति’ अर्थात् ब्रह्म को जान लेने से आत्मा ब्रह्मरूप हो जाता है। जीव, ब्रह्म हो जाता है और उसके सारे बंधन कट जाते हैं तथा मोक्ष का साक्षात् अनुभव होता है। मोक्ष की स्थिति को ‘अहं ब्रह्मास्मि’ की स्थिति माना गया है। मोक्ष स्वरूप का वर्णन करते हुए वेदान्तसार में कहा गया है—

‘यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रे,
अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

तथा विद्वान्नामरूपादिमुक्तः,
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।'

अर्थात् जिस प्रकार निरंतर बहती हुई नदियां अपने नाम और रूप को त्याग कर समुद्र में अस्त हो जाती हैं, इसी प्रकार विद्वान नाम, रूप से मुक्त होकर दिव्य पुरुषत्व को प्राप्त हो जाता है।

5.9.2 मोक्ष के प्रकार

शंकराचार्य मोक्ष के दो प्रकार मानते हैं—जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति। जीवन्मुक्ति से तात्पर्य है जीवनकाल रहते हुए मोक्ष की प्राप्ति कर लेना अर्थात् इस असार संसार में रहते हुए भी संसार से अनासक्त हो जाना। जीवन्मुक्ति के अंतर्गत प्रारब्ध कर्मों के परिणाम स्वरूप शरीर रहता है और आत्मा में अनासक्त चेतना व्याप्त होती है। शंकराचार्य जीवन्मुक्ति की अवस्था को समझाते हुए कहते हैं— जैसे—कुम्हार चाक से हाथ हटा लेता है तो भी पूर्व वेग के कारण चाक कुछ समय तक चलता रहता है और जैसे ही पूर्व वेग समाप्त होता है, वैसे ही चाक अवरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति अवस्था है और जब पूर्व वेग की तरह शरीर का अंत होता है तो विदेह मुक्ति हो जाती है। विदेह मुक्ति से तात्पर्य देह से भी मुक्त हो जाना। इस प्रकार शंकराचार्य ने दो प्रकार के मोक्ष स्वीकार किए हैं।

5.9.3 मोक्ष प्राप्ति के साधन

शंकराचार्य के अनुसार—‘ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः’ अर्थात् ज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। ‘ज्ञानादेव मुक्तिः’ ज्ञान ही मोक्ष है। शंकराचार्य ने मोक्ष के लिए साधन चतुष्टय पर बल दिया है, जिसमें प्रथम है—‘नित्यानित्य वस्तु विवेक’ अर्थात् नित्य और अनित्य पदार्थ के भेद का ज्ञान हो जाना। दूसरा है—‘इहामुत्रार्थभोगविराग’ अर्थात् लौकिक और पारलौकिक सकल भोगों की कामना का त्याग कर देना। तीसरा है—‘शमदमादि साधन संपत्’। शम अर्थात् मन का संयम, दम अर्थात् इंद्रियों का नियंत्रण, श्रद्धा—शास्त्रों में निष्ठा रखना, समाधान—चित्त को ज्ञान के साधन में लगाना, उपरति अर्थात् विक्षेपकारी कार्यों से विरक्त होना, तितीक्षा अर्थात् शीत, उष्ण आदि सहन करने का अभ्यास करना। चौथा मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प का होना। इन चार साधनों से युक्त होने पर मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इसके लिए शंकराचार्य ने श्रवण—मनन और निदिध्यासन पर भी बल दिया अर्थात् गुरु के उपदेश को सुनना, उन उपदेशों पर युक्ति पूर्वक विचार करना और उन उपदेशों को बार—बार जीवन में उतारना भी मोक्ष की दिशा में कदम बढ़ाना है। यह सब होते हुए भी शंकराचार्य मोक्ष के साधन के रूप में ब्रह्म ज्ञान को मानते हैं।

5.10 मोक्ष विचार (रामानुज)

मोक्ष के संदर्भ में रामानुज के विचार शंकर से कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं। जहां शंकराचार्य मोक्ष में 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' मानते हैं अर्थात् आत्मा एवं ब्रह्म की एकता को मोक्ष मानते हैं, वहां रामानुज ब्रह्म तथा आत्मा की एकता को मोक्ष नहीं मानते हैं। उनके अनुसार भक्त कभी भगवान नहीं हो सकता। भक्त में भगवान के गुण आ सकते हैं किंतु भगवान के स्वरूप को भक्त कभी नहीं प्राप्त कर सकता, इसलिए मोक्ष में एकरूपता को रामानुज स्वीकार नहीं करते हैं। दूसरा मोक्ष के प्रकार में रामानुज जीवन्मुक्ति को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार संसार में रहते हुए कोई मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि संसार में रहते हुए संसार से कोई अनासक्त नहीं हो सकता। संसार का काम है बांधना और इस बंधनरूपी संसार में कोई भी मुक्त नहीं हो सकता, इसलिए रामानुज केवल विदेह मुक्ति को मानते हैं यानी जब शरीर की भी मुक्ति हो जाती है तभी वास्तविक मुक्ति होती है। मोक्ष के साधन के रूप में भी रामानुज शंकराचार्य से अंतर रखते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान से ही मोक्ष नहीं होता है। जहां शंकर ज्ञान से मोक्ष मानते हैं वहां रामानुज भक्ति से मोक्ष को स्वीकार करते हैं। भक्ति अर्थात् ईश्वर में पूर्ण रूप से समर्पित हो जाना ही भक्ति है और यही भक्ति मोक्ष की प्राप्ति कराती है। तात्पर्य है कि भक्त, भगवान को ही अपना रक्षक समझता है, यही आत्म समर्पण ही भक्ति है। आत्मसमर्पण के तीन भेद किए गए हैं— प्रथम, फल—समर्पण भक्ति— इस भक्ति में फल का त्याग करना होता है। भगवान की प्रसन्नता ही उसका फल है। दूसरा, भार समर्पण भक्ति —इस भक्ति में अपनी रक्षा का भार भगवान पर छोड़ना होता है। वह पाप—पुण्यादि की भावना से रहित हो जाता है। तीसरा, स्वरूप समर्पण भक्ति—साधक अपने स्वरूप का त्यागकर भगवान के सम्मुख आत्मसमर्पण करता है। अपने अहंकार को भगवान के स्वरूप में सम्मिलित कर देता है अतः भगवान से अपने आपको पृथक् नहीं समझता है। इस प्रकार मनसा—वाचा—कर्मणा ईश्वर में अपने आपको समर्पित कर देना ही सच्ची भक्ति है और इसी भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

5.11 निष्कर्ष

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि वेदांत दर्शन के दो महान पुरुष आचार्य शंकर एवं आचार्य रामानुज के दर्शन में मायावाद, ब्रह्म विचार, जीव, जगत् और मोक्ष के संदर्भ को अपने-अपने ढंग से व्याख्यायित किया गया है। दोनों ही व्याख्याएं अपने-अपनी दृष्टि से सही प्रतीत होती हैं।

5.12 अभ्यास के प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

शंकर के मायावाद पर प्रकाश डालते हुए रामानुजाचार्य द्वारा किए गए खण्डन को स्पष्ट कीजिए।

‘अथवा’

शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के ब्रह्म विचार पर प्रकाश डालते हुए दोनों के ब्रह्म विचार के स्वरूप में अंतर स्पष्ट कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित में से किन्हीं पांच के उत्तर दीजिए।

1. अद्वैतवाद किसे कहते हैं?
2. विशिष्टाद्वैत का क्या अर्थ है?
3. ब्रह्मसूत्र पर कितने भाष्य लिखे गये हैं?
4. शंकर दर्शन में मोक्ष की विवेचना कीजिए।
5. विदेह मुक्ति किसे कहते हैं?
6. सगुण ब्रह्म से क्या तात्पर्य है?
7. सांख्य की प्रकृति और शंकर की माया में क्या अंतर है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. शंकर के दर्शन में ब्रह्म की शक्ति किसे माना गया है?
2. शंकराचार्य के दर्शन में जगत् सत्य है या असत्य?
3. शंकर के दर्शन में माया का क्या अर्थ है?
4. रामानुज ने शंकर के मायावाद का खंडन कितनी अनुपपत्तियों में किया है?
5. शंकर के दर्शन में ब्रह्म सगुण है या निर्गुण?
6. रामानुज के दर्शन में ब्रह्म को निर्गुण या सगुण माना गया है?
7. शंकर के दर्शन में मोक्ष का क्या अर्थ है?
8. क्या रामानुज जीवन्मुक्ति को मानते हैं?
9. शंकर दर्शन में मोक्ष का साधन किसे माना गया है?
10. रामानुज के दर्शन में मोक्ष प्राप्ति का साधन क्या है?

5.13 अध्ययन हेतु कुछ ग्रंथों के नाम

1. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य— लेखक आचार्य शंकर
2. श्रीभाष्य— लेखक— रामानुजाचार्य
3. वेदांतसार— श्री सदानंद
4. भारतीय दर्शन— प्रोफेसर आनंदप्रकाश त्रिपाठी
5. अद्वैत वेदांत— प्रोफेसर जगदीशसहाय श्रीवास्तव

प्रश्न बैंक

1. भारतीय दर्शन की विशेषताएं बतलाते हुए पाश्चात्य विचारकों द्वारा लगाये गये आरोपों का परिहार कीजिए—
2. जैन दर्शन के अनुसार तत्त्व पर प्रकाश डालिए—
3. षड्द्रव्यात्मको लोकः की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए—
4. जैन दर्शन के अनुसार अनेकान्तवाद किसे कहते हैं? स्याद्वाद से इसका अन्तर स्पष्ट कीजिए—
5. जैन दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण पर प्रकाश डालिए—
6. जीव और अजीव तत्त्वों की विवेचना कीजिए—
7. निर्जरा का अर्थ करते हुए उसके भेदों को स्पष्ट कीजिए—
8. पुण्य और पाप तत्त्वों पर प्रकाश डालिए—
9. आस्रव तत्त्व की विवेचना कीजिए—
10. संवर तत्त्व को स्पष्ट कीजिए—
11. जैनदर्शन के अनुसार बंधन और मोक्ष पर प्रकाश डालिए—
12. द्रव्य किसे कहते हो? द्रव्यों के भेदाभेदवाद को स्पष्ट कीजिए—
13. जीव और अजीव द्रव्य की व्याख्या कीजिए—
14. धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तर्क द्वारा इनकी सिद्धि कीजिए—
15. आकाशास्तिकाय द्रव्य पर प्रकाश डालिए—
16. काल को अनस्तिकाय द्रव्य क्यों कहा गया है? इसके स्वरूप को स्पष्ट कीजिए—
17. जीव के लक्षण की विस्तार में व्याख्या कीजिए—
18. जीव के अस्तित्व सिद्धि में दिये गये प्रमुख तर्कों को समझाइये—
19. जीव के विविध भेद—प्रभेदों को स्पष्ट कीजिए—
20. पुद्गल का अर्थ करते हुए उसके लक्षणों पर प्रकाश डालिए—
21. पुद्गल की अवस्था को स्पष्ट कीजिए—
22. परमाणु के स्वरूप एवं लक्षण की व्याख्या कीजिए—
23. पुद्गल के विविध प्रकार के भेदों पर प्रकाश डालिए—
24. सांख्य से क्या तात्पर्य है? सांख्य के कारण—कार्य सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए—
25. सांख्य के अनुसार प्रकृति किसे कहते हैं? प्रकृति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसके अस्तित्व को सिद्ध कीजिए—

26. सांख्य के अनुसार पुरुष से क्या तात्पर्य है? पुरुष के स्वरूप, अस्तित्व की सिद्धि, एवं इसकी अनेकता पर प्रकाश डालिए—
27. प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध पर प्रकाश डालिए—
28. सांख्य के विकासवाद पर एक निबन्ध लिखिए—
29. सांख्य के प्रमाण विचार को स्पष्ट कीजिए—
30. सांख्य दर्शन के अनुसार मोक्ष के स्वरूप एवं प्रकार पर प्रकाश डालिए—
31. योग किसे कहते हैं? योग के स्वरूप पर प्रकाश डालिए—
32. योग दर्शन में पंच वृत्तियों को स्पष्ट करते हुए उसके निरोध के उपाय बताइये—
33. अष्टांग योग पर एक निबन्ध लिखिए—
34. पंच भूमियों पर प्रकाश डालिए—
35. योग दर्शन में ईश्वर के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए—
36. न्याय का क्या अर्थ है? न्याय के प्रत्यक्ष प्रमाण पर प्रकाश डालिए—
37. अनुमान किसे कहते हैं? अनुमान का आधार क्या है तथा अनुमान के प्रकार पर प्रकाश डालिए—
38. न्याय दर्शन में शब्द प्रमाण किसे कहते हैं? इसके प्रकार को बताते हुए पूर्ण वाक्य के वैशिष्ट्य को स्पष्ट कीजिए—
39. न्याय दर्शन में पदार्थ के प्रकारों पर प्रकाश डालिए—
40. न्याय दर्शन में ईश्वर की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए—
41. व्याप्ति किसे कहते हैं? व्याप्ति अनुमान के लिए क्यों आवश्यक है—
42. वैशेषिक दर्शन में द्रव्य पदार्थ पर प्रकाश डालिए—
43. वैशेषिक दर्शन में 24 गुणों की व्याख्या कीजिए—
44. वैशेषिक दर्शन में सामान्य पदार्थ को स्पष्ट कीजिए—
45. वैशेषिक दर्शन में कर्म और विशेष पदार्थ की व्याख्या कीजिए—
46. वैशेषिक दर्शन में समवाय के महत्त्व पर प्रकाश डालिए—
47. अभाव किसे कहते हैं? विविध प्रकार के अभावों पर प्रकाश डालिए?
48. वैशेषिक परमाणुवाद को स्पष्ट कीजिए—
49. वेदान्त से क्या तात्पर्य है? इसकी सार्थकता को स्पष्ट कीजिए—
50. शंकर मायावाद को स्पष्ट करते हुए रामानुज के अनुसार खण्डन कीजिए—
51. शंकर और रामानुज के अनुसार ब्रह्म विचार का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए—
52. शंकर और रामानुज के अनुसार मोक्ष के स्वरूप, प्रकार एवं मोक्ष मार्ग का तुलनात्मक विवेचन कीजिए—

53. अद्वैत और विशिष्टाद्वैत में अनन्त स्पष्ट कीजिए—